मुगलकालीन सरकार तथा प्रशासनिक संरचना

डॉ० ऊषा रानी बंसल

मुगलकालीन सरकार
तथा
प्रशासनिक संरचना

डॉ० ऊषा रानी बंसल
रीडर, इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MUGALKALIN SARKAR TATHA PRASHASNIK SANRACHNA

by

Dr. Usha Rani Bansal

ISBN : 81-7124-535-8

प्रथम संस्करण : 2007 ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com ● sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

आमुख

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना बाबर ने सन् 1526 में लोदी सुल्तान इब्राहिम लोदी को पानीपत के युद्ध में परास्त करके की। बाबर एशिया की दो प्रमुख जातियों चंगेज खाँ तथा तैमूर से सम्बन्ध रखता था। बाबर के वंश का नाम मुगल वास्तव में तुर्कों की चगतई शाखा के नाम पर था। इस शाखा का नाम मुगल चंगेज खाँ मंगोल के दूसरे पुत्र के नाम पर पड़ा था, जिसके अधिकार में मध्य एशिया तथा तुर्कों का देश तुर्किस्तान था। भारत पर मुगल आक्रान्ता बाबर के आक्रमण का इतिहास वस्तुत: समानधर्मी मुगल तथा अफगान संघर्ष की कहानी है। बाबर के बाद हुमायूँ का 1530 में राज्यारोहण तथा 1540 में अफगान शेरशाह द्वारा हुमायूँ को भारत से बाहर निकाल कर अफगान राज्य की स्थापना और पुन: 1555 में हुमायूँ का भारत में मुगल राज्य की स्थापना इसी अफगान मुगल संघर्ष का इतिहास है।

बाबर जिसने भारत में मुगल वंश की नींव डाली, वह 1526 से 1530 ई० तक युद्धों में व्यस्त रहा। अत: शासन और सरकार की स्थापना की ओर ध्यान नहीं दे सका। उसने तत्कालीन राजाध्यक्ष का नाम 'सुल्तान मिर्जा आमिर' के स्थान पर पादशाह करके उसे नये सोपान पर बिठाने का कार्य किया। हुमायूँ का सारा समय युद्ध व कठिनाइयों के समाधान में निकल गया। उसमें प्रशासनिक पद्धति की कोई संकल्पना ही न थी। शेरशाह जो हुमायूँ तथा अकबर के अन्तराल में आया उसने एक निश्चित प्रशासनिक व्यवस्था प्रारम्भ करने का कार्य किया। मुगल वंश में अकबर ने एक निश्चित प्रशासनिक व्यवस्था तथा सरकार बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यह व्यवस्था जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के शासन काल में आंशिक परिवर्तनों के साथ चलती रही। परवर्ती मुगल शासकों में इतनी योग्यता ही न थी कि वह कोई नई प्रशासनिक व्यवस्था बना सके। अत: भारत में अंग्रेजी भारत की स्थापना (India under the crown) 1857 तक अकबर द्वारा स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था का ढाँचा आंशिक परिवर्तन के साथ बरकरार रहा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भारत में मुगल बादशाहों की प्रशासनिक संरचना तथा सरकार का वर्णन किया गया है। मध्यकालीन भारत के इतिहास पर अनेक पाठ्य पुस्तकें हैं किन्तु मध्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था पर हिन्दी भाषा में पुस्तकों का अभाव ही है। इस अभाव को पूरा करने के लिये उपलब्ध सामग्री के आधार पर मुगलकालीन

सरकार तथा प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना शोध निर्देशक डॉ० जे० एन० वाजपेयी, पत्रकारिता के स्तम्भ और अनेक ऐतिहासिक पुस्तकों के लेखक स्व० राजकुमार चाचाजी तथा मेरे विद्वान् पति डॉ० बी०बी०बंसल की सतत् प्रेरणा और प्रोत्साहन का प्रतिफल है। उनके प्रति हृदय के भावों से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। श्री राजेश तिवारी ने इसे कम्प्यूटर पर टाइप किया, मैं उनकी आभारी हूँ। मैं आदरणीय श्री पुरुषोत्तमदास मोदीजी की विशेष आभारी हूँ जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन के प्रस्ताव को स्वीकार कर तत्काल उसे प्रकाशन के लिये दे दिया। उन्होंने प्रकाशन के समय अपने अनुभव तथा ऐतिहासिक और हिन्दी के ज्ञान से प्रस्तुत ग्रन्थ को उपयोगी बनाने में विशेष सहायता प्रदान की। उन्होंने पूरे ग्रन्थ को पढ़ कर अपने सुझाव दिये। मैं उनकी इस रुचि तथा सुझावों के लिये हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। श्रीरामचरितमानस में तुलसीदास जी ने लिखा है कि बिनु हरि कृपा मिलै नहीं संता ईश्वर की कृपा से किसी भी कार्य को करने के लिये प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायक प्राप्त होते हैं। मेरा परम सौभाग्य है कि प्रभु ने अपनी असीम अनुकम्पा से हिन्दी भाषा में ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखने के लिए सभी साधन सुलभ कराये। मैं इनके चरणों में नमन करती हूँ।

सन् 2006 **ऊषा रानी बंसल**

अनुक्रम

मुगल बादशाहों की न्याय-पीठ (Scales of Justice)

प्रथम अध्याय

मुगल शासन व्यवस्था का स्वरूप

प्रस्तावना

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना बाबर ने सन् 1526 ई० में लोदी सुल्तान इब्राहिम लोदी को पानीपत के युद्ध में परास्त करके की। बाबर एशिया की दो प्रमुख जातियों चंगेज खाँ तथा तैमूर के वंश से सम्बन्ध रखता था। बाबर के वंश का नाम मुगल वास्तव में तुर्कों की चगतई शाखा के नाम पर पड़ा था। इस शाखा का नाम मुगल चंगेज खां मंगोल के दूसरे पुत्र के नाम पर पड़ा था, जिसके अधिकार में मध्य एशिया तथा तुर्कों का देश तुर्किस्तान था। भारत पर मुगल आक्रान्ता बाबर के आक्रमण का इतिहास वस्तुतः समानधर्मी मुगल तथा अफगान संघर्ष की कहानी है। बाबर से पहले मंगोलों ने सुल्तानों के राज्य पर जो निरन्तर आक्रमण किये उसने सुल्तानों को भारी क्षति पहुँचाई और उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया, जिससे सल्तनत में निरन्तर अस्थिरता बनी रही। सुल्तानों का बहुत-सा समय व धन मंगोलों से सल्तनत को बचाने में खर्च हो गया। मंगोलों के आक्रमण के प्रतिफल के रूप में षडयन्त्र कुचक्र तथा अमीरों के विद्रोह हुए। जिन्हें दबाने और विफल करने में सुल्तानों की शक्ति का अपव्यय हुआ। बाह्य सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था और स्थिरता स्थापित करने के आन्तरिक संघर्ष में सल्तनत के सुल्तानों का जीवन बीत गया। मंगोल आक्रमण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह था कि 'नये मुसलमानों' का भारत में बसना। इसने भारतीय आबादी में एक नया तत्त्व जोड़ा और समय-समय पर तुर्की-अफगान सुल्तानों के लिए समस्याएँ खड़ी कीं। ऐसे मंगोलों के एक वंशज बाबर की भारत में विजय तथा मुगल राज्य की स्थापना निश्चय ही इस्लाम एवं विश्व के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसे भारत के इतिहास में इस्लाम की नई विजय माना जा सकता है क्योंकि यही वह समय था जब इस्लाम के अनुयायियों ने संसार भर में विजय-पताका फहराई थी। 1453 ई० में तुर्कों ने कुस्तुतुनिया को जीत लिया। सुलेमान ने 1520-1566 ई० में तुर्की साम्राज्य की प्रभुता को दक्षिण-पूर्वी यूरोप भर में फैलाया तथा फारस के इस्माइल सफावी ने 1500-1524 ई० में प्रसिद्ध सफावी साम्राज्य की नींव डाली।[1] बाबर ने यूसुफजाई

1. मजूमदार, रायचौधुरी, दत्त, *भारत का वृहत इतिहास*, भाग-2, पृ० 146

अफगानों पर दो बार आक्रमण किया था। इसी समय तुर्कों की एक शाखा चगताई तुर्कों (बाबर) ने 1519 ई० से भारत पर आक्रमण कर 1526 ई० में नये साम्राज्य की नींव डाली। बाबर के उत्तराधिकारी एवं पुत्र हुमायूँ के समय बाबर द्वारा स्थापित नवतुर्की राज्य को कुछ समय के लिए ग्रहण लग गया। 1555 ई० में मुगल साम्राज्य का सितारा पुनः चमका, जिसे हुमायूँ की असामयिक मृत्यु के बाद अकबर ने आगे बढ़ाया। इस तरह भारत में मुगल शासन की स्थापना की तीन दशाएँ हैं—पहली दशा में बाबर ने भारत पर विजय करके अफगानों, राणा साँगा तथा राजपूतों को परास्त किया। यह कार्य 1526 से 1530 ई० तक चला। दूसरी दशा में बाबर के पुत्र हुमायूँ का तख्तनशीन होना तथा बंगाल, बिहार, गुजरात, मालवा पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास है। 1530 से 1540 ई० तक हुमायूँ प्रशासनिक तथा राज्य विस्तार की समस्या से उलझा रहा। सूर सुल्तान शेरशाह ने बादशाह हुमायूँ को बिलग्राम के युद्ध में परास्त करके भारत से बाहर निकाल दिया। शेरशाह सूरी ने दिल्ली में 1540 ई० में एक नये राजवंश की नींव डाली। सूरवंश अत्यन्त अल्पकालीन सिद्ध हुआ और 1555 ई० में हुमायूँ ने पुनः दिल्ली का तख्त प्राप्त कर लिया। तीसरी दशा हुमायूँ के पुनः मुगल शासन की स्थापना तथा अकबर द्वारा उसको सुदृढ़ बनाने की है।

बाबर जिसने भारत में मुगल वंश की नींव डाली, वह 1526 से 1530 ई० तक युद्धों में व्यस्त रहा अतः शासन और सरकार की स्थापना की ओर ध्यान न दे सका। उसने तत्कालीन राजाध्यक्ष का नाम 'सुल्तान, मिर्जा, आमिर' के स्थान पर पादशाह करके उसे नये सोपान पर बिठाने का कार्य किया। (इसका विस्तार से वर्णन आगे किया गया है) हुमायूँ का सारा समय युद्ध व कठिनाईयों के समाधान में निकल गया। उसमें प्रशासनिक पद्धति की कोई संकल्पना ही न थी। शेरशाह जो हुमायूँ तथा अकबर के अन्तराल में आया उसने एक निश्चित प्रशासनिक व्यवस्था प्रारम्भ करने का कार्य किया। मुगल वंश में अकबर ने एक निश्चित प्रशासनिक व्यवस्था तथा सरकार बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यह व्यवस्था जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब के शासन काल में आंशिक परिवर्तनों के साथ चलती रही। परवर्ती मुगल शासकों में इतनी योग्यता ही न थी कि वह कोई नई प्रशासनिक व्यवस्था बना सकते। अतः भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना (1857 ई०) अकबर द्वारा स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था का ढाँचा आंशिक परिवर्तन के साथ बरकरार रहा।

मुगल साम्राज्य के प्रमुख घटक

मुगल साम्राज्य की प्रजा भिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, प्रजातियों तथा कबीलों का समूह था। तथाकथित हिन्दुओं में विभिन्न सम्प्रदाय जैसे—जैन, बौद्ध, सिक्ख आते थे। ये सभी परम्परागत वर्णों में विभक्त थे। बहुत बड़ी संख्या में पारसियों ने भारत में

शरण पाई थी। मध्य एशिया के विभिन्न प्रदेशों तथा कबीलों के लोग भारत में बस गये थे, जिनमें तुर्क, अफगान, खिलजी, तुरानी, ईरानी, उजबेग आदि प्रमुख थे। सल्तनत की स्थापना के बाद भारत में इस्लाम धर्म को मानने वालों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। मुसलमान दो मुख्य धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त थे जैसे सुन्नी तथा शिया। गुजरात में इस्लाम की एक अन्या प्रशाखा बोहरा तथा खोजा (Khojas) थे। ये सभी इस्लामिक समुदाय दूसरे सम्प्रदाय को इस्लाम के पारम्परिक सिद्धान्तों का अनुपालन न करने वाला (Heterodox) मानते थे। सरकारी आँकड़ों के अनुसार इस्लाम के अनुयायियों में सुन्नियों की संख्या सबसे अधिक थी। इस्लाम के इन विभिन्न सम्प्रदायों में आपसी मतभेद और टकराव होता रहता था। जातीय तौर पर (Racially) मुसलमान तुर्क आदि वर्गों में विभक्त थे। धर्मान्तरित मुसलमानों की संख्या सम्भवतया मुसलमानों की कुल संख्या से अधिक थी।[1] कुछ धर्मान्तरित मुसलमान इस्लाम को अपनाने के बाद भी अपने संस्कार और परम्पराएँ अपनाये हुए थे।[2] व्यवसाय के आधार पर शासक वर्ग (मुसलमान) का छोटा-सा समुदाय था लेकिन सरकारी सेवा में मुसलमानों की संख्या शासक वर्ग की अपेक्षा कहीं ज्यादा थी जबकि सेना में वह बहुसंख्या में थे। मुसलमान शासकीय कार्य तथा प्रशासनिक सेवा करना पसन्द करते थे। खेती-बाड़ी में उनकी रुचि नहीं थी। इस सामाजिक पृष्ठभूमि ने मुगल शासन पद्धति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भक्ति आन्दोलन तथा सूफी सन्तों की वाणी ने राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक वातावरण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। सभी धर्मों के लोग भक्ति और अध्यात्म की ओर आकर्षित हुए। चमत्कारों के प्रति सभी वर्गों में आकर्षण बढ़ा। इसी के साथ अन्धविश्वास, ज्योतिष, सगुन विचार आदि टोने-टोटकों का प्रचार-प्रसार हुआ। पीरों की मजार तथा हिन्दुओं के प्रमुख क्षेत्र तीर्थस्थान के रूप में स्थापित हुए। जहाँ भारत के कोने-कोने से लोग विभिन्न अवसरों तथा उत्सवों में सम्मिलित होने लगे। इन स्थानों पर इतर सम्प्रदाय के व्यक्ति भी सामान बेचने-खरीदने के लिए जाने लगे। यह अस्थायी बाजार के रूप में महत्त्वपूर्ण बन गये। डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है—"These places of pilgrimage acted as welders as well, welding together all classes of Hindu Society drawn from all over India."[3] इन तीर्थस्थानों तथा मेलों ने हिन्दुओं को ही नहीं वरन् इस समाज के विभिन्न सम्प्रदायों तथा घटकों तथा वर्गों को एक साथ मिलाने का कार्य किया।

---

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 7
2. *वही*
3. *वही*, पृ० 8

साधारणतया समाज के प्रमुख अंग शासन वर्ग, अधिकारी वर्ग, मध्यमवर्ग तथा किसान थे। सभी कार्य-कलापों की धुरी खेती-बाड़ी थी। प्रजा की दशा साधारणतया सन्तोषजनक थी। महामारी, अकाल, बाढ़, प्लेग इत्यादि ईश्वरीय कोप समझा जाता था। सरकारें ऐसे समय पर कर माफी और अनुदान देती थीं।

भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से विशाल देश था। जिसमें विभिन्न प्रकार की जलवायु, रीति-रिवाज, भाषा तथा खान-पान के लोग रहते थे। मुगल सम्राट अकबर को ऐसे देश के लिए एक सरकार तथा प्रशासनिक व्यवस्था की संरचना करनी थी।

मुगल शासन का उद्देश्य

मुगल शासन का उद्देश्य अविभाज्य सम्प्रभुता प्राप्त करना था। दिल्ली के सुल्तानों और मध्य एशिया के अमीरों, महान खान आदि से भिन्न मुगल शासकों ने बादशाह (पादशाह) की उपाधि धारण की। अबुल फजल ने पादशाह शब्द की व्याख्या इन शब्दों में की है, पाद अर्थात् स्थायित्व और शाह का अर्थ है स्वामी। स्थायित्व और स्वामित्व का संयोग पादशाह है। इस प्रकार पादशाह का अर्थ है कि ऐसा शक्तिशाली स्वामी या राजा जो संप्रभु था और जिसे कोई अपदस्थ नहीं कर सकता था। पादशाहत की स्थापना ही मुगल शासन का मुख्य उद्देश्य था। मुगल सम्प्रभुता की अवधारणा को निश्चित आकार-प्रकार में स्थापित करने का प्रयास मुगल पादशाहों ने किया। डॉ० यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि मुगलों की राजतन्त्र की अवधारणा सैनिक तन्त्र पर आधारित थी जिसकी धुरी केन्द्रीकृत निरंकुश राजतन्त्र था। अपनी मुस्लिम प्रजा का वह लौकिक तथा धार्मिक अध्यक्ष था। मुगल पादशाह ने मुस्लिम समुदाय के हित तथा सुख और समृद्धि के लिए कार्य किये। "By its nature it was a military rule and therefore necessarily a centralised despotism. To the Muslim portion of the population the sovereign was the head of both Church and State, and therefore he undertook socialistic functions."[1] मुगल सम्प्रभुता को ऐसी चमत्कारी शक्तियों से युक्त बनाया गया कि उसके सत्ताधिकार को चुनौती देना असम्भव हो गया। पादशाह सम्राट इस निरंकुश राजतन्त्र की धुरी था। प्रशासन का प्रत्येक विभाग उसके प्रत्यक्ष नियन्त्रण में था। शासन की समस्त गतिविधियाँ, वित्त, संचार व्यवस्था, सुरक्षा, किसानों की स्थिति, राजघराना, व्यापार, शिक्षा, उद्योग, विद्वानों के प्रश्रय और संरक्षण आदि का संचालक बादशाह था।

डॉ० जे०एन० सरकार ने बादशाह के राजकीय और व्यक्तिगत रुचि के कार्यों का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि शिक्षा प्रदान करना सरकार का कार्य नहीं था। शिक्षा प्रदान करना सामुदायिक कार्यकलाप था। सरकार अथवा बादशाह, मदरसों व

---

1. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 4

स्कूलों को सरकारी अनुदान देते थे। वर्तमान शिक्षा के सन्दर्भ में यह तथ्य अत्यन्त विचारणीय है कि मुगलकाल में बादशाह शिक्षा की प्रगति के लिए जो भी प्रयत्न करता था वह उसकी व्यक्तिगत रुचि और परलोक सुधारने (धार्मिक कृत्य) की इच्छा से प्रेरित होता था। यही कारण था कि विभिन्न बादशाहों के समय शिक्षा की प्रगति भिन्न-भिन्न रही और सरकार शिक्षा के सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति का निर्धारण न कर सकी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इंग्लैण्ड की सरकार के निर्देश पर एक शिक्षा नीति बनाई थी। वैसी शिक्षानीति की संकल्पना सल्तनत व मुगल सरकार में नहीं थी। डॉ॰ सरकार के शब्दों में, "If the king spent anything on education, it was not an act of the state, but a private religious benefication for acquiring personal merit in the next world, some schools were subsidized by the Padishahah Padshahas, but it was only because they were attached to mosques or taught by families of holy men already in receipt of imperial bounty, or in other words, because they served as seminaries for training Ulema (theologieans) for the service of the state Church. (Cf. Ency, Islâm III, 170)"[1]

शिक्षा की तरह ही कला और साहित्य भी बादशाह की व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर था। कला, ललित कला, साहित्य आदि का उद्देश्य बादशाह का मनोरंजन करना तथा उसके वैभव में चार चाँद लगाना था। बादशाह के द्वारा दिया गया अनुदान और प्रोत्साहन इनके शुद्ध विकास से अभिप्रेरित नहीं था। "Here the head of the state was exactly on the same footing as a rich private citizen and be recognized no higher obligation to his people"[2]

संक्षेप में सामाजिक कार्य सरकार का दायित्व न होकर समुदाय विशेष तथा वर्ग विशेष का दायित्व समझा जाता था। इस परिप्रेक्ष्य में बादशाहों की व्यक्तिगत रुचि के अनुरूप ही कलाओं का विकास हुआ। जैसे बादशाह जहाँगीर की चित्रकला में विशेष रुचि थी इसलिए उसके काल में चित्रकला का अत्यन्त विकास हुआ। बादशाह शाहजहाँ की रुचि स्थापत्य कला में थी। उसके संरक्षण में स्थापत्य कला चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। परसी ब्राउन ने इस बुलन्दी को पत्थरों में धड़कन पैदा करने की उपाधि दी थी। उनकी यह टिप्पणी बड़ी जीवंत है कि शाहजहाँ की स्थापत्य कला '....is a romance in stone,' औरंगजेब के समय साहित्य का विकास हुआ लेकिन ललित कलाओं का पराभव हो गया। सम्राट अकबर की

1. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 4
2. *वही,* पृ० 4

ललित कलाओं में रुचि के कारण शाही चित्रकला, संगीत कला, स्थापत्य कला, साहित्य, धर्म का विकास हुआ। औरंगजेब के बाद कलायें प्रान्तीय सरदारों और अमीरों के यहाँ पलायन कर गईं। मुगल बादशाहों के काल में सरकार की ललित कलाओं के सम्बन्ध में निश्चित स्पष्ट नीति नहीं थी, जो ललित कलाओं के सतत विकास में गतिरोध को स्पष्ट करती है।

द्वितीय अध्याय

मुगल राज्य का स्वरूप

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना सोलहवीं सदी में हुई। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियाँ पश्चिमी यूरोप में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तनकारी शताब्दियाँ थीं। इस समय ने मनुष्य की चिन्तन-शक्ति, प्रयोग बुद्धि और विचार स्वातन्त्र्य को उत्तेजित एवं उद्वेलित किया था। मध्यकाल में राज्य का स्वरूप यूरोपीय था। समस्त ईसाई जगत् राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से एक माना जाता था। पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम चरण में फ्रांस, स्पेन और इंग्लैण्ड में दृढ़ राजतन्त्रों की स्थापना प्रारम्भ हो गई। जिसने धर्म और राज्य के संघर्ष में मध्यकालीन ईसाईयत की एकता को गहरी क्षति पहुँचाई। यूरोपियन देशों ने अपने देश को रोम के चर्च के नियन्त्रण से मुक्त करने का प्रयास किया। एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना करना इनका आदर्श था। सोलहवीं शताब्दी में उन्हें इस आदर्श की प्राप्ति भी हो गई। इस युग में यूरोप के देशों में राष्ट्र प्रेम व राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई। यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक युग में जहाँ राष्ट्रीयता का आधार राष्ट्र है वहाँ उस समय राष्ट्र प्रेम का अर्थ शासक के प्रति राजभक्ति था। किसी शासक के व्यक्तिगत गौरव, योग्यता तथा शक्ति पर राष्ट्र की एकता, उत्थान और पतन निर्भर था। सेनाएँ राष्ट्र के लिए नहीं वरन् राजा के लिए युद्ध करती थीं। उस समय के सुदृढ़ राजतन्त्रों ने राष्ट्रीय संगठन को एक ठोस आधार प्रदान किया। इस नई प्रवृत्ति के अनुरूप यूरोप में राष्ट्रों का उत्थान तथा निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना एवं साम्राज्यों के एकीकरण और विस्तार का युग प्रारम्भ हुआ। इंग्लैण्ड में जिस निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना हुई वह यूरोप के अन्य राष्ट्रों से इस दृष्टि से भिन्न थी कि वह जनप्रिय भी थी। इंग्लैण्ड के ट्यूडर राजाओं के समय देश का आन्तरिक विकास हुआ जिससे अन्तर्राष्ट्रीय गौरव का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारत में सोलहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। मुगल राज्य के स्वरूप में तत्कालीन यूरोपीय प्रवृत्तियों से कुछ साम्य दिखाई पड़ता है। यह साम्य आवश्यक नहीं यूरोपीय प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण हो वरन् स्वतंत्र रूप से भी इस तरह की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न राज्यों में एक ही समय में देखी जाती है। अतः भारत में मुगलों ने जिस साम्राज्य की स्थापना की उसका स्वरूप सल्तनत के स्वरूप से भिन्न तत्कालीन यूरोपीय धाराओं से कुछ साम्यता रखता दिखाई देता है।

सल्तनत काल में राज्य का स्वरूप धर्मतन्त्र या धर्म–सापेक्ष राज्य के रूप में था। खलीफा से भारत पर शासन करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त करने के साथ–साथ सुल्तानों ने खुद को खलीफा के नियन्त्रण से मुक्त करने का प्रयास किया। सल्तनतकालीन राज्य खलीफा की वैधानिक मान्यता तथा स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की कशमकश में उलझा दिखता है। जिसने खलीफा की वैधानिक शक्ति से स्वतंत्र एक पृथक राज्य के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। मुगलों ने जब भारत पर अधिकार कर अपना राज्य स्थापित किया तो उन्होंने इल्तुतमिश की तरह किसी खलीफा से वैधानिक मान्यता पत्र प्राप्त नहीं किया। सिद्धान्ततः वह इस्लामिक कानूनों को सर्वोपरि मानते थे। वह न तो उनकी अवहेलना कर सकते थे और न ही उनमें कोई परिवर्तन कर सकते थे। वह अपने मुस्लिम भाईयों के अतिरिक्त अपनी गैर–इस्लामिक प्रजा को व्यक्तिगत सम्बन्धों में अपने धर्म का पालन करने को बाध्य नहीं कर सकते थे। मुसलमानों में धार्मिकता बनाये रखने के लिए उन्होंने काज़ियों की नियुक्ति की। लेकिन हिन्दुओं पर इस्लामिक धर्म लागू नहीं किया। हिन्दू, हिन्दू परम्पराओं व विधि से व्यक्तिगत जीवन जीते रहे। डॉ० आर०एस० शर्मा ने अपनी पुस्तक 'मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन' में लिखा है कि, "The Mughal Emperors could in theory introduce changes in the Hindu law or custom, but as they lacked the machinery to enforce such changes even the Hindu law was left alone. They never claimed the right to define the religious beliefs of their people, Hindus or Muslims."[1]

कहना ठीक होगा कि मुगल बादशाहों ने यूरोप में राज्य और धर्म के मध्य होने वाले खूनी संघर्ष से भिन्न प्रकार से राज्य को धर्म से पृथक करने का प्रयास किया। धर्म व्यक्तिगत आस्था का और राज्य राजनैतिक कार्यों का अध्यक्ष बन गया। धर्म और राज्य का पृथक्करण सल्तनत काल से चली आ रही प्रवृत्ति के सहज क्रम में हो गया। मुस्लिम समुदाय द्वारा (कठमुल्लाओं के अतिरिक्त) इसका विरोध करना तो दूर इसे चुपचाप स्वीकार कर लिया गया।

अब प्रश्न उठता है कि मुगल शासन का कानूनी आधार क्या था? क्या मुगल शासन कुरान के नियमों (शरा) पर आधारित थी? विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न कोणों से इसकी समीक्षा की है। धर्मतन्त्र के अनिवार्य घटक हैं ईश्वर की प्रभुसत्ता में विश्वास तथा दैवी नियमों के अनुसार धार्मिक अधिकारियों (काजियों, पादरी, पुरोहित आदि) के निर्देश पर शासन का संचालन। इस्लामिक शासन का आधार शरीयत था। डॉ० आर०एस० शर्मा ने लिखा है कि जहाँ तक पहले घटक का प्रश्न है

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 14–15

ईश्वर की प्रभुसत्ता में विश्वास इसके बारे में कोई मतभेद नहीं था। मुगल बादशाहों को न केवल ईश्वर की प्रभुसत्ता में विश्वास था वरन् वह खुद को खुदा का नूर, ईश्वर का प्रतिनिधि खुदा की परछाई कहते थे। वह स्वयं को दैविक गुणों से सम्पन्न बताते थे और यही उनके राजपद पर अधिकार का नैतिक व कानूनी अधिकार था। आधुनिक युग में यूनाईटेड स्टेट ऑफ अमेरिका धर्मनिरपेक्ष राज्य का उदाहरण माना जाता है। परन्तु वह भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। उसकी मुहर तथा सिक्कों पर खुदा हुआ है 'In God we trust' धर्मतन्त्र की उपरोक्त परिभाषा के अनुसार धर्मनिरपेक्ष अमेरिका राज्य में क्या धर्मतन्त्र का पहला घटक उपस्थित माना जाना चाहिए? यह अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है।

जहाँ तक शासन में दूसरे घटक का प्रश्न है उस पर विद्वानों के विचारों में भिन्नता है। डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि पर्शिया, अफगानिस्तान, मिस्र जहाँ की समस्त जनता को इस्लाम स्वीकार करने पर बाध्य किया गया था, वहाँ भी इस वास्तविकता को स्वीकार किया गया कि शासन तन्त्र का व्यावहारिक पक्ष पवित्र काज़ी व धर्माधिकारियों की कल्पना से परे था। मुस्लिम शासकों ने इस्लाम धर्म की रक्षा तथा प्रसार का बीड़ा उठाया तो धर्माधिकारियों ने उन्हें शासन कार्य में छूट प्रदान कर दी। उन्होंने सुल्तानों के कार्यों को गैर-कानूनी करार नहीं दिया। भारत में इस्लामिक राज्य की स्थापना मध्य एशिया से भिन्न धरातल पर हुई। सुन्नी और शिया सम्प्रदायों के कारण इस्लामिक नियम कानूनों में परिवर्तन आ चुका था। जिसका प्रभाव यह हुआ कि शासकों को शासन के कानून बनाने में अधिक स्वतंत्र विकल्प मिल गये। मुगल बादशाह शासन के क्षेत्र में नियम कानून बनाने के लिये तब तक स्वतंत्र था जब तक वह कुरान के नियमों के विरुद्ध नहीं था। श्री बी०एस० चयानी ने लिखा है कि मुगल राज्य का शासन इस्लामी कानून के अनुसार नहीं चलता था। अकबर की सरकार का आधार न केवल शरीयत था अपितु बदायूँनी के शब्दों में वह जवाबित (राज्य के कानून) पर भी आधारित था। अकबर का दारूल हरब को दारूल इस्लाम में बदलने का कोई इरादा नहीं था। फिर भी उसने अब्दुल्ला खाँ को जो पत्र लिखे उसमें तथा कट्टरपंथियों के आरोपों को खण्डन करते हुए स्वयं को पक्का मुसलमान बताया। डॉ० इब्न हसन ने लिखा है कि, But both Jahangir and Shah Jahan regard themselves at least in theory, as Muslim kings. They do not think themselves above Islamic law. This idea finds it expression on several occasions."[1] 1579 ई० के महज़र ने अकबर को इमाम और अमीरूल मुमीनीन तथा मुज़्ताहिद बना दिया। इसने कुरान को राज्य के आधारभूत कानून की मान्यता दी। अकबर ने यद्यपि व्यापक,

1. हसन, इ०, *सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दी मुगल एम्पायर,* पृ० 63

उदारवादी तथा गैरपंथी शासन नीतियों का अनुसरण किया था। फिर भी ऐसा लगता है मुगल राज्य का संचालन इस्लाम के व्यापक ढाँचे को नहीं लाँघ सका।[1] डॉ० श्रीराम शर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "...in organising their government most of the Mughal emperors felt themselves at liberty to order things as they pleased, provided what they did was not actually opposed to the Quran."[2]

डॉ० शर्मा के अनुसार मुगल बादशाहों ने (अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब) खुदाई नूर आदि उपाधियाँ धारण करके खुद को इस्लामिक कानूनवेत्ता की परिधि से थोड़ा ऊपर उठाने का ही काम किया। इससे उस समय अपने देश में वह खलीफा के समकक्ष हो गये लेकिन खलीफा नहीं। इसका अर्थ कदापि यह नहीं था कि बादशाह दैवी गुणों की खान (divinity hedging the king) या देवता था। डॉ० शर्मा ने तत्कालीन इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट राजाओं के दैवी अधिकारों से तुलना करते हुए लिखा है कि, "Shakespeare could talk of the divinity of the king because Tudors had rescued England from the feudal anarchy of the war of Roses. James-I could loudly proclaim himself king by the grace of God because he had succeeded to English throne despite many obstacles which men had been placing in his way."[3] स्टुअर्ट राजा शासन–प्रशासन के क्षेत्र में स्वतंत्र प्रभारी थे। वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। लेकिन डॉ० शर्मा लिखते हैं कि मुगल बादशाह खुलेआम कभी भी ऐसी घोषणा नहीं कर सके। वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते थे जो कुरान के विरुद्ध हो। जबकि इंग्लैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने अपने दैवी अधिकार तत्कालीन विश्वास (एंग्लिकन चर्च राजा की अप्रतिरोधी आज्ञाकारिणी है) से प्राप्त किया था। बाद में एंग्लिकन चर्च के पैर उखाड़ने का कार्य भी इसी आधार पर हुआ। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ट्युडर राजाओं ने एंग्लिकन चर्च से ही राज्य का समर्थन प्राप्त किया था। विलियम तृतीय ने Non-jurors से इस कार्य में सहयोग लिया था।

अकबर ने महजर की घोषणा करते हुए स्पष्ट रूप से कहा था कि उसकी नीति व निर्णयों का तभी विरोध किया जाय जब वह कुरान के विरुद्ध हो। डॉ० शर्मा के उपरोक्त तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष है कि "Thus the Quran was recognised as fundamental law of the state. This was exactly what the stuarts in England were denying at this time. Eng-

1. चयानी, बी०एस०, *मध्यकालीन भारत*, भाग-2, पृ० 53
2. शर्मा, श्रीराम, *पूर्व उद्०*, पृ० 15
3. *वही*, पृ० 17

land, they asserted, had no fundamental laws beyond their reach. They themselves were law and the state. A fundamental law and the divine right of king are incompatible."[1] धर्मतंत्र के दोनों घटक मुगल काल में दिखाई देते हैं। परन्तु इसके साथ एक अन्य तत्त्व भी मौजूद था वह था कि कुरान के मरकस (केन्द्र) से बँधे रहने के बाद भी मुगल शासकों ने प्रशासन में राजपूतों, अन्य हिन्दुओं, भारतीय मुसलमानों, अफगानों, ईरानी तथा मध्यवर्ती एशियाई मूल के निवासियों को सम्मिलित करके एक ऐसे राज्यतंत्र का संगठन किया जो बादशाह के द्वारा निर्धारित नीतियों का सफलता से कार्यान्वयन कर सके। इतनी विस्तृत सार्वभौम भागीदारी को कुछ इतिहासकारों ने मुगल राज्य को 'राष्ट्रीय राज्य' कहने का आधार बनाया है। डगलस ई० स्त्रेसाँ ने लिखा है कि मुगल साम्राज्य के लिए राष्ट्रीय विशेषण का प्रयोग काल-दोष माना जायेगा क्योंकि उस समय जन समुदाय की प्रशासन में सामूहिक भागीदारी नहीं थी[2] तथा इनका किसी भौगोलिक या नृजातीय आदर्श से लगाव नहीं था। भारत के सन्दर्भ में मुगल साम्राज्य एक विदेशी शासन था। मुगलों ने विभिन्न वर्गों के सहयोग से जिन निष्ठावान समर्थकों का दल संगठित किया था वह शासन के उच्च पदों पर आसीन थे और उनकी निष्ठा और वफादारी राष्ट्र (देश) के प्रति न होकर बादशाह के प्रति थी। इक्तदार आलम खाँ ने इसे परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण बिन्दु बताते हुए लिखा है कि 1560 से 1575 ई० के बीच मुगल-व्यवस्था में राजपूतों और भारतीय मुसलमानों के सम्मिलित किए जाने तथा उच्च पदों पर फारसियों की संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप अमीर वर्ग का तुरानी रूप रंग क्रमशः फीका पड़ता गया एवं राज्य संगठन में व्याप्त चग़ताई परम्पराओं और रीति-रिवाजों में कमी आती गई। जे०एफ० रिचर्डस ने लिखा है कि अकबर की राजनैतिक योग्यता इस तथ्य में निहित है कि उसने मध्य एशियाई भिन्न-भिन्न मूल के कबीलों से आये मुसलमानों और हिन्दुओं की नई पहचान स्थापित करने का कार्य किया। उसने उच्चस्तरीय योद्धाओं और विभिन्न मूल वाले अभिजात वर्गों के मूल्यों में बदलाव ला दिया। इन योद्धाओं और अमीरों की परिस्थिति, साम्राज्य में उनके स्थान उनकी निष्ठा व योग्यता पर निर्भर थी न कि वंशक्रम अथवा सामुदायिक जुड़ाव पर।[3] जिसने सल्तनतकालीन समीकरणों जैसे तुर्की अमीरों का दल, अफगानों का गुट, खिल्जी अमीरों अथवा सैयद, लोदी दल

---

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेण्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 16-17
2. राष्ट्रीय शब्दों का प्रयोग किस सन्दर्भ में किया गया है यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है अर्थात् सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति।
3. चयानी, बी०एस०, *पूर्व उद्धृत,* पृ० 54

इत्यादि को महत्त्वहीन बना दिया। अकबर को शासन के प्रथम चरण में ही इन सामुदायिक दलों की महत्त्वाकांक्षा का कड़ुवा अनुभव हो चुका था। अपने साम्राज्य की स्थिरता तथा विस्तार के लिए दलबंदी से इतर एक सार्वभौमिक स्वामिभक्त दल का संगठन तत्कालीन आवश्यकता थी। सार्वदेशिक सरकारी तन्त्र का संगठन एक ऐसा ही प्रयास था। इस सरकारी तन्त्र के अधिकारियों की एक ही भाषा, आचार-व्यवहार तथा वेशभूषा थी। इस उच्च वर्ग ने हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों को प्रभावित किया। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि "The upper classes of the Hindus forming the official classes were possibly influenced in their dress and outward behaviour by the example of their Muslim colleagues."[1]

मुगल शासक तथा धार्मिक कानून (शरा)

उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हुई कि मुगल शासक कुरान के केन्द्र से कभी बाहर नहीं गये। लेकिन उपरोक्त विवेचना इस तथ्य को भी प्रमाणित करती है कि मुगल शासकों के लिए इस्लामिक कानून से अधिक महत्त्वपूर्ण भारत में उपस्थित मध्य एशियाई इस्लामिक समुदाय थे जो सधर्मी होने के अतिरिक्त एक दूसरे से सर्वथा भिन्न (भाषा, वेशभूषा, परम्परा आदि) तथा श्रेष्ठता का अलग सोपान लिए हुए थे। ऐसे समुदायों को नई पहचान तथा प्रस्थिति देने से उनके आन्तरिक चक्रव्यूह पर मुगल बादशाह का अंकुश लग गया। इस्लाम के धर्माधीश (खलीफा) से मुगल शासकों ने अपना सम्बन्ध न बनाकर स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी। अब उनके राजत्व पर अंकुश लगाने वाली कोई संस्था न बची थी। इतिहासकारों का मत है कि मुगलों के निरंकुश राजतंत्र पर रूढ़िवादी मुल्लाओं और काज़ियों का नियंत्रण था। लेकिन ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इन काज़ियों और मुल्लाओं तथा उलेमाओं की नियुक्ति बादशाह की इच्छा पर निर्भर थी। डॉ० इब्न हसन ने लिखा है कि, "The king has a right to depose a qazi, because the one who has the right to appoint him possesses also the power to depose him."[2] वह बादशाह का खुलकर विरोध करने का साहस भी नहीं जुटा पाते थे। इनकी स्थिति तो इतनी दयनीय थी कि विद्रोही युवराज के बादशाह बनने पर वह उसके अधिकार को खारिज भी नहीं कर सकते थे। उदाहरण के तौर पर जब औरंगजेब ने शाहजहाँ को कैद कर खुद तख्त पर अधिकार कर लिया तो सद्र तथा उलेमा मिलकर इसका प्रतिरोध नहीं कर सके। सद्र-ए-सूदर ने जब शाहजहाँ (बादशाह) के जीवित रहते

1. शर्मा, श्रीराम, पू० उद्०, पृ० 21
2. हसन, इ. पू० उद्०, पृ० 331

औरंगजेब के नाम का खुत्बा पढ़ने से मना किया तो औरंगजेब ने सद्र को हटा कर दूसरे व्यक्ति को सद्र बना दिया। जिसने औरंगजेब का सिंहासनारोहण करवा दिया। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि, "While in contemporary England, now Roman Catholics, now Protestants, were dying for denying on religious grounds the right of their rulers to the throne, Mughal India never saw such a spectacle. Hindu and Muslim rebels were executed or otherwise punished alike. But so little was rebellion supposed to be a sin, that it became the favourite pastime of the Mughal princes. Neither Jahangir nor Shah Jahan became tainted for their rebellions against their fathers. Aurangjeb enjoyed the luxury of the father in prison."[1] डॉ० शर्मा ने लिखा है कि यह कल्पनातीत था।

मुगल बादशाहों ने भारत में स्वयं को अपनी प्रजा के धर्म से अलग रखा हुआ था। यह एक अर्न्तविरोधी प्रक्रिया दिखाई देती है। मुगल बादशाह इस्लाम के अनुयायी होने के बाद भी काफिरों, जो बहुसंख्या में थे उनको मुसलमान बनाने का कठिन प्रयास नहीं करते। यही नहीं, उनकी स्थिति को स्वीकार करते हुए मुगल बादशाहों ने जज़िया, तीर्थयात्रा कर आदि अपमानजनक करों को समाप्त कर दिया। इसे मुगल बादशाहों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति कहा जाता है। जज़िया कर ने भारत के निवासियों को उनके ही देश में परदेशी नागरिक बना दिया था। जज़िया जैसा कर जिसने हिन्दुओं को हीन (दोयम दर्जे) दशा में पहुँचाया था के समाप्त करने से उनको पुनः अपने देश में समानता का अधिकार प्राप्त हो सका। नागरिकों में धार्मिक आधार पर भेदभाव में कमी आई। मुगल बादशाहों ने अपनी मुस्लिम प्रजा की शिक्षा-दीक्षा के लिए मदरसों की स्थापना की, न्याय के कार्य के लिए काज़ियों, सद्र तथा फौजदारी की अदालतें बनाई, मुसलमानों में इस्लाम के अनुपालन के लिए उलेमा नियुक्त किए तथा मस्जिदें बनवाईं। लेकिन उन्होंने बहुसंख्यक प्रजा को अपने धार्मिक क्रिया-कलापों का पालन करने या न करने के प्रति उपेक्षात्मक व्यवहार रखा।[2] काजी की अदालतों से अथवा पंचायत से न्याय होने में मुगल बादशाहों का कोई हाथ नहीं था। जबकि अदालतों का संगठन तथा काज़ियों की नियुक्ति बादशाह करते थे। न्याय के लिए कानून वर्तमान राजकीय कानूनों की तरह नहीं बनाये गये। काज़ी इस्लामिक कानून तथा पंचायते हिन्दू

1. शर्मा, श्रीराम, पू० उद्०, पृ० 18
2. शर्मा, श्रीराम, पू० उद्०, पृ० 19 "The Mughal Emperors did not concern themselves with the religious beliefs of their people. Jahangir and Shahjahan left even the religious practices of their subjects largely uncared for."

कानूनों के आधार पर न्याय करते थे।[1] औरंगजेब ने मुस्लिम कानून का संग्रह फ़तवाह-ए-आलमगीरी में कराया। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि, "Fatawa-i-Alamgiri, is a digest of the Muslim law as understood by classical writers and is in no way inspired by its being edited in Aurangzeb time. The commentaries of Mitra Misra and Raghunandan on Hindu law influenced its contemporary interpretation to a larger extent than did the Fatwa-i-Alamgiri. But Raghunandan and Mitra Misra did not write to orders and owed nothing of their vogue to imperial."[2] डॉ० शर्मा का कहना है चाहे मुगल बादशाह निस्सन्देह मुस्लिम थे, धर्म में उदार मत रखने वाले, अपक्षपाती तथा उत्साही थे लेकिन उन्होंने प्रशासन में, तत्कालीन इस्लामिक कानून व मान्यताओं का अनुपालन किया, मानना कठिन है। सरकार का संगठन, दरबार के आचार-व्यवहार, शिष्टाचार, लगान वसूल करने, सरकारी कर्मचारियों की भर्ती करने का तरीका जितना इस्लामिक था उससे ज्यादा भारतीय परम्पराओं से भी प्रभावित था।[3]

अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ का झरोखा दर्शन देना, तुलादान करना, चित्रकला, संगीत और नृत्य को प्रोत्साहन तथा संरक्षण देना इस्लामिक सिद्धान्तों से इतर कार्य थे। कट्टरपंथियों ने इनकी कटु आलोचना की परन्तु बादशाह अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार इनको प्रश्रय देते रहे। उलेमाओं की आपत्ति के बावजूद इनके शासन काल में व्यक्ति चित्र भी बनाये गये जो इस्लाम के अनुसार आपत्तिजनक थे। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि ऐसा उन्होंने हिन्दू संस्थाओं अथवा कला व संस्कृति का संवर्द्धन करने के उद्देश्य से नहीं किया था वरन् यह उनकी व्यक्तिगत रुचि और रुझान का परिणाम था। यह अलग बात है कि उनकी इन सांस्कृतिक गतिविधियों को धार्मिक समभाव तथा उदारता के रूप में देखा व सराहा गया है।

बाबर, औरंगजेब के द्वारा विशेष रूप से तथा अन्य बादशाहों द्वारा आंशिक तौर पर मन्दिर तोड़ने का कार्य किया गया। काँगड़ा के मन्दिर में इस्लाम के अनुसार कर्मकाण्ड कराया गया। धर्म परिवर्तन करने वालों को विशेष पुरस्कार व सुविधाएँ दी गईं। उदाहरण के तौर पर बिहार के राजा संग्राम सिंह के पुत्र के द्वारा इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने पर उसे नवाब बना दिया। यह कुछ तथा अनेक ऐसे अवसर हैं

1. शर्मा, श्रीराम, पू० उद्०, पृ० 19
2. *वही*
3. *वही*, पृ० 20

जब मुगल बादशाह धार्मिक उदारता तथा प्रजा के प्रति समभाव से विचलित होते दिखाई देते हैं। इन घटनाओं की कट्टरपंथी मुल्लाओं ने प्रशंसा करते हुए बादशाह को ऐसा करने के लिए प्रेरित भी किया। औरंगजेब की धार्मिक समभाव की नीति से विचलित होने का कारण इतिहासकारों ने तत्कालीन राजनैतिक आवश्यकता बताया है। उत्तराधिकार का युद्ध धार्मिक युद्ध न होकर सत्ता हथियाने का खूनी संघर्ष था जिसमें धर्म एक साधन मात्र हो सकता था परन्तु साध्य सत्ता थी। औरंगजेब इस्लाम पर गर्व करने वाला, शुद्ध आचार-विचार का महत्त्वाकांक्षी, कर्मठ तथा बलशाली युवराज था। गद्दी प्राप्त करने के बाद इस्लाम के सिद्धान्तों जिनका अनुपालन करने में मुसलमान भी ढिलाई बरतने लगे थे, औरंगजेब ने उन्हें पुनः कठोरता से लागू करने का प्रयास किया। इससे कुछ कट्टरपंथी उलेमा प्रसन्न तो हुए परन्तु जनसाधारण मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए यह अनुशासन कष्टप्रद था। औरंगजेब के पक्ष में कुछ कट्टरपंथी मुसलमान तो आ गये लेकिन राजपूत, शिया (गोलकुण्डा, बीजापुर पर चढ़ाई तथा करों के कारण) मराठा, बोहरा, सिक्ख, कादरी आदि में अलगाववादी प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। बी०एस० चयानी ने लिखा है कि, औरंगजेब के समय में भी भारत में इस्लाम की कोई संगठित धर्म-व्यवस्था organised Church नहीं थी। उलेमा, काजी, सद्र बादशाह के अधीन थे। औरंगजेब भारत में चल रहे हनीफी सम्प्रदाय का पोषक था लेकिन फिर भी उसे राज्य हित में 'जवाबित' जैसी धर्मनिरपेक्ष आज्ञप्तियाँ जारी कराने में संकोच नहीं था। सैद्धान्तिक रूप से 'जवाबित' शरीयत की पूरक थी परन्तु भारत में बहुसंख्यकों पर शरीयत लागू न करने, उन्हें उनके नियम, कानून से चलने की स्वतन्त्रता थी। औरंगजेब की धार्मिक नीति का विश्लेषण करने के बाद कुल मिलाकर यह रूप उभरता है कि उसने राज्य के स्वरूप को बदलने की कोशिश नहीं की। हाँ, उसने मौलिक, इस्लामी चरित्र पर अवश्य बल दिया।[1]

औरंगजेब के बाद मुगल बादशाहों ने राजपूत राजाओं के साथ मेलजोल का मार्ग अपनाया। मालगुजारी विभाग, तथा लिपिक वर्ग पर हिन्दू आसीन थे। मुहम्मद शाह ने 1720 ई० में एक शाही फरमान जारी करके जज़िया हमेशा के लिए हटा दिया। मुहम्मद शाह तो शिवनारायण सम्प्रदाय के प्रवर्तक नारायण सिंह के दया, आत्मनिष्ठा और सार-संग्रहवादी विचारों से इतना प्रभावित था कि नादिरशाह के आक्रमण के बाद उनका शिष्य बन गया। 17वीं-18वीं शताब्दियों में मस्जिदों, मदरसों और मन्दिरों को कर-मुक्त जमीन तथा दान देने की प्रथा चलती रही। मुहम्मद शाह ने महंत लाल गिरी को मस्तीपुर का तरदीह गाँव दिया। कट्टरपंथी

1. चयानी, बी०एस०, *मध्यकालीन भारत*, भाग-2, पृ० 58-59

मुल्लाओं के दबाव के बाद भी मुगल बादशाह शाही महलों में भारतीय उत्सव, (होली, दीवाली, बसन्तोत्सव) बड़ी उमंग और उत्साह से मनाते रहे।

मुगल राज्य के स्वरूप के विभिन्न घटकों का विश्लेषण इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि धार्मिक राज्य के तत्त्व कि ईश्वर में निष्ठा तथा मुगल बादशाह का इस्लाम का अनुयायी होना निःसन्देह उपस्थित था लेकिन अन्य तत्त्व तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं, तत्त्वों तथा आवश्यकताओं और भारतीय विशाल सांस्कृतिक विशेषताओं में ऐसे गड्मड्ड हो गये कि वह अपने में एक विलक्षण राज्य के रूप में उभरे जो इस्लामिक और भारतीय राज्यों का सम्मिलित रूप कहा जा सकता है।

●

तृतीय अध्याय

मुगल राजत्व के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि

भारत में मुगल राजत्व का सिद्धान्त अपनी पृष्ठभूमि के अनुरूप ही विकसित हुआ। इस्लाम के जन्म की आठ शताब्दियों बाद मुगलों ने भारत में प्रवेश किया। इस्लाम मुख्यत: एक धर्म के रूप में जन्मा था। उसमें राजनीतिक राज्य की संकल्पना का न होना स्वाभाविक था। अत: डॉ० पी० सरन का लिखना उचित है कि इस्लाम में राज्य की पूर्व-नियोजित संकल्पना नहीं थी। इस्लाम समाज के लिए राज्य को एक संस्था के रूप में आवश्यक नहीं मानता। डॉ० पी० सरन ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि, "According to Islamic Law the state is not the primary and fundamental condition of human society. It is the creed, as defined by the law of God...."[1] डॉ० बी०एस० चयानी ने इस तथ्य को इस प्रकार लिखा है कि इस्लाम में धर्म की संकल्पना पहले जन्मी और बाद में राज्य का स्वरूप स्पष्ट हुआ।[2] इस्लाम का उद्देश्य समाज में फैली अराजकता, अव्यवस्था और बुराईयों को दूर करके एक सामाजिक धार्मिक व्यवस्था स्थापित करना था न कि राज्य का। इसलिए प्रत्येक मुस्लिम का प्रथम कर्त्तव्य था कि एक व्यक्ति तथा समाज के सदस्य के नाते ईश्वरीय नियम का पालन करे। वह सब मिलकर धर्म के उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करें। तत्कालीन परिस्थितियों में इस्लाम को अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने के लिए अनेक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक दबावों को झेलना पड़ा था। हज़रत मुहम्मद की मृत्यु तक इस्लाम ने इस सब दबावों के बाद स्वयं को एक धर्म, समाज और इस्लामिक राज्य के रूप में व्यवस्थित कर लिया था। इसका मुख्य उद्देश्य मुस्लिम समुदाय को संगठित करना, इस्लामी मान्यताओं को सुरक्षित रखना तथा इस्लाम धर्म का प्रचार और प्रसार करना था। इस्लाम में आस्था रखने वालों का संगठित समुदाय 'उम्मत' कहलाता था जो इस्लाम की धुरी था। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि इसका प्रमुख कार्य पैगम्बर के धर्म का अनुपालन करना और कराना था। इस कार्य

---

1. सरन, पी० *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 82
2. चयानी, बी०एस०, *मुगल राज्य और शासक वर्ग*, संकलित द्वारा, वर्मा, ह०, *मध्यकालीन भारत*, खण्ड-2, पृ० 38

को सम्पादित न करने वालों के लिए इसमें कोई स्थान न था।[1] इस्लामिक राजत्व की स्थापना तथा अनुपालन एक राजनीतिक अनुमान से हुआ। राज्य के कार्य और क्षेत्र को स्पष्ट करने के लिए रोमन तथा ग्रीक स्रोतों का उपयोग भी किया गया लेकिन ऐसा करते समय यह ध्यान रखा गया कि कुरान जो आस्मानी किताब थी उसमें कोई परिवर्तन न किया जाये तथा उसको सर्वोपरि रखा जाये। कुरान के शब्दों एवं कानूनों की व्याख्या करने मात्र के लिए ही उनकी सहायता ली गई। सैद्धान्तिक तौर पर इस तरह धर्म राजनीति से अलग नहीं था।[2] धर्म और राजनीति अविभाज्य थीं। धर्म का स्थान राज्य से ऊपर था। इसलिए मुस्लिम समुदाय इस्लामिक राज्य से सम्बद्ध है। इस्लामिक राज्य की नागरिकता का अधिकार केवल इस्लाम के अनुयायियों को ही था। निष्कर्ष के तौर पर इस्लामिक राज्य की संकल्पना एक धार्मिक समुदाय (Communal theocracy) के रूप में हुई।[3] इस्लामिक राज्य की (Sovereignty) प्रभुसत्ता अल्लाह के पास थी। धरती पर यह प्रभुसत्ता अल्लाह के (Vice-regent) (नायब) ख़लीफा के पास थी। हजरत मुहम्मद के साथ ही पैगम्बर का पद समाप्त हो गया था। पैगम्बर के बाद खलीफा को प्रमुख प्रशासक, न्यायाधीश तथा सेनानायक का अधिकार प्राप्त हुआ लेकिन उसे पैगम्बर का दर्जा नहीं दिया गया था। खलीफा की शक्तियाँ अपरिमित थीं। कोई भी लौकिक सत्ता उस पर नियन्त्रण नहीं रख सकती थी। कुरान अथवा अल्लाह के शब्द ही उसके एकमात्र नियंता थे। मोहम्मद हबीब का खलीफा के मुस्लिम समुदाय का मुखिया बनने के विषय में मत डॉ० पी० सरन से भिन्न हैं। उनके अनुसार एक संस्था के रूप में खलीफा का जन्म न तो कुरान की किन्हीं हिदायतों के अनुसार हुआ था न ही पैगम्बर के किसी स्पष्ट निर्देश के अनुसार वस्तुतः इसकी शुरुआत जनता की आम राय 'हज़्म-ए-उम्मत' से हुई थी।[4] मोहम्मद हबीब का उपरोक्त कथन इस तथ्य का संकेत करता है कि पैगम्बर की मृत्यु से इस्लामिक जगत सदमे में आ गया था। पैगम्बर ने जिस धार्मिक, सामाजिक समुदाय की संरचना की थी उसमें पैगम्बर के उत्तराधिकारी का विचार बेमानी था। डॉ० जदुनाथ सरकार ने इसी तथ्य को इंगित

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी,* पृ० 84 "Hence according to the Islamic conception the state is but an instrument to serve the creed in the attainment of its object or the ideal of the Millat of Islam, as revealed to it through the medium of the Prophet... If it fails of its duty rightly and fully subserving the creed, if forfeits its right to exist."
2. चयानी, बी०एस०, *मध्यकालीन भारत,* खण्ड-2, पृ० 38
3. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी,* पृ० 82
4. चयानी, बी०एस०, *मध्यकालीन भारत,* खण्ड-2, पृ० 38

करते हुए लिखा कि पैगम्बर की मृत्यु से उत्पन्न रिक्तता को भरने के लिए जनता (मिल्लत) ने पैगम्बर के रिश्तेदार को उनका उत्तराधिकारी बनाया।

इसी समय से यह माना जाने लगा कि इस्लाम का नेतृत्व मुहम्मद साहब के वंश में से होना चाहिए। इसी आधार पर शायद उम्मायद तथा अब्बासी खलीफाओं के काल में वंशानुगत उत्तराधिकार की परम्परा को बल मिला। शासक द्वारा अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने के तथा मिल्लत के द्वारा अपना नेता चुनने की परम्परा में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। दोनों ही साथ-साथ चलती रहीं। मुसलमानों में प्रचलित निर्वाचन पद्धति बड़ी लचीली थी। इसके अनुसार मुस्लिम नेताओं और जनसाधारण द्वारा नियमानुसार मान्यता प्राप्त कोई भी व्यक्ति नेता या प्रधान बन सकता था। इसमें आंशिक परिवर्तन खलीफा के पद के वंशानुगत होने के साथ हुआ। यह स्वीकार किया जाने लगा कि ग्यारह व्यक्तियों द्वारा अथवा चार या पाँच व्यक्तियों अथवा एक व्यक्ति के द्वारा चुने जाने पर भी उसे मिल्लत द्वारा निर्वाचित माना जाना चाहिए।[1] अगर निर्वाचित उस व्यक्ति के विरुद्ध विरोध में आवाज नहीं उठती तो उसे निर्वाचित मान लिया जाय। उत्तराधिकार की इस मिश्रित परम्परा ने इस्लामी राज्यों में भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं का चलन किया जिसने दरबारी अमीरों व सरदारों में कुचक्रों तथा दाँव पेंचों के लिए रास्ता बनाया।

उम्मायद खलीफाओं के समय राजनीतिक व्यवस्था को निश्चित रूप प्राप्त हुआ। इनके समय राजतन्त्र नामक संस्था तथा शासक वर्ग का अस्तित्व अधिक मजबूत हुआ।[2] इन खलीफाओं ने न केवल इस्लामिक समाज की सुरक्षा की वरन् उसे पूर्व में काबुल और पश्चिम में मिस्र तक फैला दिया। 732 ई० तक इस्लाम का प्रसार यूरोप में स्पेन तक हो गया। इस्लाम के प्रसार के साथ खलीफा के वैधानिक संप्रभुता के सिद्धान्त का विकास हुआ। मिस्र में फातिमावंशी खलीफाओं के अतिरिक्त नये राज्यों का उदय हुआ। इन नये राज्यों के संप्रभु तथा खलीफा के मध्य सम्बन्धों ने खलीफात में एक नया तत्त्व संवैधानिक प्रभुता जोड़ दिया।

इस प्रकार खलीफा पार्थिव इस्लामिक संसार का शासक बन गया। खलीफा ने उभरते राज्यों के शासकों को औपचारिक ढंग से क्षेत्र विशेष में शासन के अधिकार प्रदान कर दिए। इस परिवर्तन का इस्लाम के मूल ढाँचे से कोई अंतर्विरोध

1. वर्मा, *मध्यकालीन भारत*, भाग-1, पृ० 313
2. Dr. P. Saran ने लिखा है, "The practical needs of a great polity and the unruly temper of the Arabs combined to transform the caliphate into a personal rule of an entirely secular type under the Imayyadsa; then under the Abbasides, into a monarchy on the Persian pattern, whose apparent orthodoxy but ill-conceived despotism, the violence and the administrative mis-management which were pushing the Empire to its ruin.". p. 7.

नहीं था क्योंकि खलीफा का पूरे इस्लामिक जगत पर एकल अधिकार था। खलीफा एक स्वीकृत पत्र (खिल्लत) के माध्यम से शासकों को क्षेत्र विशेष में शासन करने के अधिकार को मान्यता प्रदान करता था। खलीफा से प्राप्त की जाने वाली खिल्लत शासक के शासनात्मक अधिकार को वैधानिक गौरव प्रदान करती थी। शासक खुतबे में खलीफाओं के नाम पढ़ते थे तथा उनका नाम सिक्कों पर खुदवाते थे। इस प्रकार खलीफा की प्रतीकात्मक राजभक्ति का विकास हुआ। जो खलीफा की कृपा से प्रारम्भ हुई और बाद में कानूनी कर्त्तव्य मात्र बन गई।

1258 ई० में मंगोल नेता हलाकू ने अन्तिम अब्बासी खलीफा अल मुस्तसिम का वध कर दिया। इस प्रकार खिलीफात का अन्त हो गया। खलीफा अल मुस्तसिम के वंश के बचे हुए व्यक्तियों ने मिस्र के मामलुक सुल्तानों के यहाँ शरण ली। मामलुक सुल्तानों ने उन्हें आध्यात्मिक अध्यक्ष का सम्मान दिया। मिस्र के खलीफाओं का वंशक्रम 1517 ई० तक चला। सोलहवीं शताब्दी में कुस्तुनतूनिया के ऑटोमन सुल्तानों ने खलीफा की उपाधि धारण कर ली। खलीफात के इस इतिहास से खलीफाओं के स्तर तथा खलीफात की गद्दी का स्थान भी बदलता रहा लेकिन इस परिवर्तन के बाद भी खलीफा इस्लामिक जगत के आध्यात्मिक अधिकारी का सम्मान प्राप्त करते रहे और प्रभावहीन होने के बाद भी इस्लामिक राजनीति की धुरी बने रहे।

खलीफा का राज्य विशेष के खान, सुल्तान से जैसा भी सम्बन्ध रहा हो परन्तु मुस्लिम समाज यह समझाता था कि खलीफा के प्रति आदर दिखाना सुल्तानों का प्रथम कर्त्तव्य है। खलीफा से खिल्लत प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है और खिल्लत का सम्मान करना चाहिए। डॉ० पी० सरन ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है, "All these kingdoms nominally acknowledged the spiritual sovereignty of the Caliph·but in temporal matters they were their own masters. The chief visible token of the Caliph was the retention of his name in the Khutbah, 'a bidding prayer' recited on Fridays in the mosques throughout Islam, and on coins. It is extremely probable that even this fragment of authority was only allowed to survive for reasons of state, principally to invest with a show of legitimacy to the claims of the various rulers who were, theoretically at least, vassals of god's vicegerent on earth, the Caliph of Baghdad.[1] " Such then was in general the position assumed by the Muslim rulers of different countries. Even when all but the

1. *कैम्ब्रिज मेडिवल हिस्ट्री*, तृतीय, पृ० 300-301

ghost of the Khalifat had vanished the Muslim potentates of distant lands sought to legalise their assumption of authority by obtaining confirmation or occasionally a regular investiture by the Khalifa."[1]

मुगलों ने जब भारत में अपना राज्य स्थापित किया उस समय तक खलीफात के सिद्धान्त में दूरगामी परिवर्तन हो गया था। किसी भी शासक को अपने अधिकार को वैधानिक बनाने के लिए खलीफा से खिल्लत प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। प्रत्येक शक्तिशाली शासक स्वयं खलीफात का निर्वहन करने लगा। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इतना होने पर भी मुगल बादशाहों ने खलीफा के मिथक को अस्वीकार नहीं किया। वह भी प्रथम चार खलीफाओं का नाम मुद्राओं तथा सिक्कों पर खुदवाते रहे। डॉ० पी० सरन ने इस तत्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, "Thus in theory, at any rate the Mughal rulers, like all other contemporary Muslim rulers, regarded themselves as true Muslims rulers and conveniently ignored the fact that they had departed very far in their actual practice from the basis of Muslim law. It was natural that they remained under this happy delusion and some of them tried very vigourously to vindicated their position by as far as possible, utilising all the resources the state in the service of the creed and for the Muslim Community primarily."[2]

मुगल राजवंश का संस्थापक जैसा कि उल्लेखित किया जा चुका है कि चंगेजखान और तैमूर लंग का मिश्रत वंशज था। इसलिए बाबर के राजनीतिक आदर्शों में मुगल तुर्की विचार का मिला-जुला रूप दिखाई देता है। जिसमें संप्रभु को नेता से अधिक कुछ नहीं माना जाता था। चंगेज खाँ बौद्ध धर्म का अनुयायी था। मंगोल वंश में संप्रभुता का बीज अर्ध दैविक था। चंगेज खाँ की सैनिक अभियानों में सफलता तथा पारम्परिक विश्वास ने उसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर दिया था। चंगेज खाँ ने नेता को संप्रभु तथा महान खान के अधिदैविक गुणों से सम्पन्न धरातल में स्थापित किया। इस संप्रभुता को चुनौती देने का साहस कोई न कर सका। यहाँ तक कि तैमूरलंग ने भी महान खान के वंश की संप्रभुता को चुनौती नहीं दी। तैमूरलंग स्वयं भी प्रभुसत्ता के दैविक अंश को इस रूप में स्वीकार करता था कि सत्ता अविभाज्य है। खलीफात के पतन के बाद तैमूरलंग का किसी खलीफा के घराने के प्रति दायित्व समाप्त हो गया। तैमूर का लालन-पालन इस्लामी परम्पराओं के मध्य हुआ था। अतः उसकी राजपद के विषय में अवधारणा धार्मिक ही रही।

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 83-84
2. *वही*, पृ० 84

उसने चंगेज खाँ के दैविक आदर्श को तैमूरी खानदान के शासकों के निरंकुश सत्ता का उपयोग करने के लिए किया। यह संप्रभुता अविभाज्य थी।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस्लामिक संप्रभुता के सिद्धान्त में सैद्धान्तिक धुरी के इर्द गिर्द परिवर्तन चक्र चलता रहा। जिसमें समयानुसार तुर्की, ईरानी, अरबी, गजनवी राजनीतिक विश्वासों का समावेश होता गया। इस तरह इस्लामी राजपद का सिद्धान्त गज़ाला ईरानी तथा इस्लामिक विचारों का समिश्रण प्रस्तुत करते हैं। वह (शरीयत) धर्म और राजपद दोनों को ही ईश्वर की देन बताते हैं। निजाम-उल-मुल्क तुसी जो 11वीं शताब्दी में हुए अपनी पुस्तक सियासतनामा में तथा अली-बिन-सहाब हमलावीं ने ज़ख़ीरात-उल-मुल्क में शान्ति स्थापना के लिए एक शक्तिशाली पादशाह की आवश्यकता पर बल देते हैं। अतः निष्कर्ष के तौर पर मुगल साम्राज्य की स्थापना के समय अधिकांश मुस्लिम जगत में राजत्व का सिद्धान्त पूर्व इस्लामिक अरबी, मुस्लिम ईरानी, तुर्की और मंगोल समिश्रण से बना था। मध्यवर्ती एशिया के तैमूरी वंश में प्रचलित सिद्धान्तों ने मुगलों के लिए एक विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया था[1] जिसके मुख्य तत्त्व राज्य का अर्धदैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, उत्तराधिकार का नियम, स्वयं खुत्बा पढ़ना तथा राज्य-सत्ता का गौरव बढ़ाने के लिए बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण करना था।

बाबर तथा हुमायूँ का राजत्व का सिद्धान्त

बाबर, जिसने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली प्रधानतः एक सैनिक था। वह फरगना की जागीर का (जागीरदार) मिर्जा था। बाबर ने अपनी आत्मकथा तुजके बाबरी में राजत्व के सिद्धान्त के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया। उसके समय-समय पर व्यक्त विचारों तथा कार्यों से ही उसकी राजत्व की प्रकल्पना का बोध होता है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में लिखा था कि तैमूरलंग के उत्तराधिकारी चाहे राज्य क्यों न करते हों उन्हें मिर्जा कहा जाता था। 1507 ई० में काबुल की विजय के बाद उसने आदेश दिया कि उसे मिर्जा के स्थान पर 'पादशाह' कहा जाये। बाबर ने काबुल की विजय के बाद पादशाह की उपाधि धारण की। बाबर का पादशाह की उपाधि धारण करना कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। वह सम्भवतया तैमूर वंशियों में खुद को सबसे प्रमुख तथा तुर्की सुल्तानों तथा उज़बेक शासक शैबानी खाँ से भिन्न उच्च धरातल पर स्थापित करने का प्रयास था। इसलिए उसने एक आडम्बरी पदवी 'पादशाह' धारण कर ली थी। वह तैमूर की तरह खुद को पृथ्वी पर खुदा का प्रतिनिधि मानता था। बाबर किसी का भी आधिपत्य जैसे किसी मुगल खान अथवा खलीफा का मानने को तैयार नहीं था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह मुगल

1. चयानी, बी०एस०, राज्य का स्वरूप : निरन्तरता एवं परिवर्तन, उद्० वर्मा, हरिश्चन्द्र, (सम्पा०), *मध्यकालीन भारत*, पृ० 40-41

राजत्व की सर्वोच्चता सिद्ध करना चाहता था। बी०एस० चयानी का मत है कि बाबर ने तैमूरी प्रभुसत्ता के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का उपयोग गद्दी प्राप्त करने के लिए किया। बाद में जब भारत में उसकी सत्ता स्थापित हो गई तो उसने 1526 ई० में मुगल ख़ानों की उपाधि खाकान धारण कर ली।[1] यहीं यह भी जान लेना आवश्यक है कि बाबर ने तुर्की सुल्तानों से अपने को भिन्न दिखाने के लिए 'पादशाहत' प्रचार किया लेकिन उसने तुर्कों से अपना सम्बन्ध खुद को चगतई तुर्क कह कर बनाये रखा।

बाबर सम्राट ने वंशानुगत अधिकार में विश्वास रखता था। इसका उदाहरण उसकी तैमूर के वंशज के रूप में भारत पर अधिकार का दावा करना था और भारत पर अतिक्रमण का औचित्य बताना था। बदख्शाँ के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अबु सईद को बाबर ने जो पत्र लिखा उसमें उसने वंशानुगत अधिकारों का उल्लेख किया था। बाबर ने 1529 ई० में हुमायूँ को जो पत्र लिखा था उससे उसके राजत्व सम्बन्धित विचारों के बारे में पता चलता है। बाबर ने लिखा था कि बादशाही से बढ़कर कोई बन्धन नहीं है। बादशाहों के लिए एकान्तवास या आलसी जीवन उचित नहीं है। बादशाह को सदैव क्रियाशील होना चाहिए। बादशाह को योग्य तथा अनुभवी अमीरों एवं अपने हितैषियों से परामर्श करके राज्य कार्य करना चाहिए। बादशाह अमीरों को आदेश दे कि वे उसके सामने राज्यकार्य हेतु दो बार उपस्थित हों।[2] बाबर की आत्मकथा तुजुके बाबरी में यूँ तो उसके राजत्व के सिद्धान्त का कोई क्रमबद्ध उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु कहीं-कहीं उसका वर्णन किन्हीं सन्दर्भों में देखा जा सकता है। बाबर अपनी आत्मकथा में अनेक ऐसे अवसरों का वर्णन करता है जब वह अमीरों के साथ खुल कर मिलता था तथा शराब पीता और आनन्द मनाता तथा हास-परिहास करता था। इतना होने पर भी उसने 'पादशाहत' को अमीरों से भिन्न धरातल पर स्थापित किया। उसी का अनुकरण करके सभी मुगल बादशाहों ने पादशाह की उपाधि धारण की। बाबर ने भारत और बदख्शां में अपने वंशानुगत अधिकार की पुष्टि की थी लेकिन इसमें निहित अन्तर्विरोध बाबर के मृत्यु शय्या के समय स्पष्ट हो गया। बाबर अपने ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। लेकिन राजपद को अनुवांशिक बनाने को मेंहदी ख्वाजा ने षडयन्त्र करके चुनौती प्रस्तुत कर दी थी। इस तरह अनुवांशिक उत्तराधिकार का नियम निरन्तर षडयन्त्र व कुचक्रों और उत्तराधिकार के युद्धों की ज्वाला में जलता रहा। इस्लाम के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में निश्चित नियम न होने के कारण प्रत्येक युवराज पादशाह बनने का प्रयत्न करता था। अनुवांशिक उत्तराधिकार तथा पादशाहत पर सबके समान हक ने मुगल साम्राज्य की नींव हिला दी। श्रीराम शर्मा ने मुगल

1. चयानी, बी०एस०, उद्०, वर्मा ह० (सम्पा०), *मध्यकालीन भारत*, खण्ड-2, पृ० 38
2. *बाबरनामा*, पृ० 625-27

गर्वनमेंट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन में इस तत्त्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि, "मुगल राजत्व के सिद्धान्त की कुछ घटनाएँ विशेष विचाराधीन हैं, जैसे उत्तराधिकार के निश्चित नियम के न होने के कारण मुगल बादशाहत के दावेदार केवल बाबर के वंशज होंगे, एक विवादित विषय बन गया। बाबर के दामाद मेंहदी ख्वाज़ा ने बाबर की मृत्यु के समय हुमायूँ के स्थान पर खुद को बादशाह बनाने का (कुचक्र) प्रयास किया। एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है कि जहाँगीर के विद्रोहों से दुःखी होकर एक समय बादशाह अकबर जब मृत्यु शय्या पर था तो उसके अपने प्रपौत्र शहजादा खुसरो ने स्वयं बादशाह घोषित कर दिया। उसे आशा थी कि उसके समर्थक उसका पक्ष लेंगे। बादशाह जहाँगीर को राज्याभिषेक के बाद कई महीने इस प्रतिरोध को समाप्त करने में बीत गये। यह दोनों उदाहरण यह बताते हैं कि तख्तनशीन बादशाह द्वारा उत्तराधिकारी को मनोनीत किया जाता था परन्तु उसे चुनौती दी जा सकती थी। वह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं था। बादशाह जहाँगीर ने मृत्युशय्या पर शहज़ादा शहरयार को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया लेकिन तख्तनशीन शहजादा खुर्रम हुआ। बादशाह शाहजहाँ के पुत्र औरंगजेब ने शाहजहाँ द्वारा उत्तराधिकारी मनोनीत करने के अधिकार को चुनौती देते हुए उसके मनोनीत शहजादे को तख्त पर नहीं बैठने दिया। बादशाह औरंगजेब के पुत्रों ने औरंगजेब के द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी को उत्तराधिकारी मानने के स्थान पर सत्ता के लिए संघर्ष किया। इस तरह बादशाहत पर शासक के वंश का एकल अधिकार तथा बादशाह द्वारा मनोनीत शहजादा ही उत्तराधिकारी मान लिया जाए, विरोधाभासी दिखाई देते हैं। यही नहीं शासक के बड़े पुत्र को ही राजपद के लिए मनोनीत किया जाये, नियम का ही अनुपालन होता दिखाई नहीं देता। बादशाह अकबर ने जहाँगीर के स्थान पर अपने प्रपौत्र को गद्दी पर नामित करने का विचार किया। जैसे कुछ अमीर शहज़ादा खुसरो के पक्ष में थे शायद वैसे ही दानियाल को भी समर्थक मिल जाते।[1] निष्कर्ष के तौर पर कहा जा

1. Sharma, S.R., *Mughal Government and Administration*, p. 23, "This story brings out certain prominent features of the Mughal Kingship which need notice. There does not seem to have been any generally accepted law of succession. Dominion was not even supposed to run in the house of Babur alone Mehdi Khwaja was Babur's son in law claim to the throne does not seem to be confined to the sons of the last ruler... Nomination by the reugning monarch did not always have much effect. Babur's Prime Minister Khalifa, knew Babur's wishes when he was trying to supplant Humayun... Aurangzeb's rebellion against Shah Jahan challenged the right of reigning monarch both to nominate a successor and to take steps that his nominee should succeed him. Aurangzeb's sons ignored his alleged will. The eldest sons do not seem to have possessed any incontestable claim."

सकता है कि राजपद इस्लामिक राजतन्त्र के अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करता है जिसमें राजपद एक ओर वंश विशेष में सीमित और दूसरी ओर (मिल्लत) निर्वाचन पर आधारित था। ये दो समानान्तर पटरियों की तरह थे जो राजतन्त्र को परिधि देने के साथ-साथ उसे कभी न मिलने वाले नदी के किनारों की तरह थे। मुगल पादशाहत इनके अन्तर्विरोधों में चक्रवात घूमती रही।

बाबर के बाद हुमायूँ बादशाह बना, वह राजत्व के दैवी सिद्धान्त में विश्वास रखता था। उसने पादशाहत के बारे में इस मान्यता पर बल दिया कि पादशाहत खुदा की परछाई है। हज़रत पादशाह, ज़िल्ले इलाही है। वह प्रभुसत्ता को न केवल दैविक अधिकार मानता वरन् उसे बादशाह की व्यक्तिगत सम्पत्ति मानता था, जिसे वह अपनी मर्जी से किसी को भी दे सकता था।[1] जैसा कि उसने भारत का दूसरी बार बादशाह बनने पर, उसका जीवन बचाने वाले भिश्ती को आधे दिन के लिए राज्यपद प्रदान किया। हुमायूँ का विश्वास था कि बादशाहत को ईश्वर से प्रेरणा प्राप्त होती है, तथा उसके कार्य ईश्वर की इच्छा पर आधारित होते हैं। अबुल फ़ज़ल उसे इन्सान-ए-कामिल अर्थात् पूर्ण मानव कह कर सम्बोधित करता है। हुमायूँ की मान्यता थी कि जिस तरह सौर मण्डल में सब ग्रह नक्षत्र सूर्य के चारों ओर घूमते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य संप्रभु के चारों ओर घूमता है। समकालीन शाही इतिहासकार ख्वादंमीर उसे सर्वोच्च धार्मिक तथा लौकिक शक्ति का साकार रूप (हज़रत पादशाह खिलाफत पनाह हकीकी मज़ाजी) कहता है।

मंगोलों तथा ईरानियों की तरह वह बादशाह को प्रकाश पुंज मानता था। बंगाल निवास के समय हुमायूँ अपने राजमुकुट पर नकाब-परदा डाले रहता था। जब वह नकाब हटाता था तो लोग कहते थे कि प्रकाश प्रगट हो गया—उसका ऐसा कह कर अभिवादन करते थे। हुमायूँ की असमय अचानक मृत्यु के कारण वह सम्भवतया अपना उत्तराधिकारी मनोनीत नहीं कर सकता था। लेकिन बैरम खाँ ने अकबर को बादशाह घोषित करवा दिया। जिसे उसके दूध भाई मिर्जा हाकिम ने विद्रोह करके चुनौती दी थी।

संक्षेप में बाबर और हुमायूँ के संप्रभु की अवधारणा तथा राजत्व का सिद्धान्त पादशाह के दैविक अधिकार, सूर्य के समान प्रकाश प्रदान करने तथा सर्वोच्चता पर आधारित थे। राज्य पर उसका स्वामित्व था। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी मनोनीत कर वंशानुगत राजत्व को महत्ता प्रदान की।

अकबर का राजत्व का सिद्धान्त

अकबर का राजत्व का सिद्धान्त उसके पूर्वजों के राजत्व के विचार तथा

1. चयानी, बी०एस०, राज्य का स्वरूप : निरन्तरता और परिवर्तन, पू० उद्०, पृ० 41

परम्पराओं के प्रमुख तत्त्वों का सम्मिश्रण था। जिसका एक संकल्पना के रूप में विकास अकबर के समय हुआ। अकबर के राजत्व के सिद्धान्त के बारे में अबुल फज़्ल द्वारा रचित 'आईन-ए-अकबरी' तथा 'अकबरनामा' से ज्ञात होता है। अबुल फज़्ल के अनुसार पादशाह शब्द 'पाद' तथा 'शाह' शब्दों के सम्मिश्रण से बना है। 'पाद' का अर्थ है स्थायित्व तथा 'शाह' का अर्थ है स्वामी अथवा अधिपति। इससे स्पष्ट होता है कि पादशाह अपने राज्य का अधिपति होता था और वह स्थायित्व का प्रतीक था। राजपद की महत्ता को अबुल फज़्ल ने इन शब्दों में प्रकट किया था, "परमात्मा की दृष्टि में राजसी पद से बढ़कर कोई पद नहीं, अगर राज्यसत्ता न होती तो अशान्ति का तूफान कभी शान्त न होता। न स्वार्थी महत्त्वाकांक्षा ही समाप्त होती, अराजकता और इन्द्रियलोलुपता से बोझिल मानव जाति पतन के गड्ढे में डूब जाती। विश्व के इस बड़े बाजार की सम्पन्नता नष्ट हो जाती और सम्पूर्ण दुनिया बंजर हो जाती।" अबुल फज़्ल ने अकबर के राजत्व के सिद्धान्त में राज्य की आवश्यकता जैसे गम्भीर विषय पर भी प्रकाश डाला था। प्रश्न उठता है कि बादशाह की आवश्यकता क्यों? इब्न हसन से अपने शोध प्रबन्ध The Central Structure of the Mughal Empire में राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनके अनुसार भारत में राज्य का स्वरूप हिन्दू तथा मुस्लिम शासन में राजतन्त्रात्मक था। देश की भौगोलिक दशा तथा विशिष्ट परिस्थितियों के कारण शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए 'राज्य' की आवश्यकता थी। प्रथम कानूनवेत्ता महर्षि मनु तथा कौटिल्य ने राज्यसत्ता की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा था कि राजा के बगैर समाज में अराजकता व्याप्त हो जाती है। समाज में मत्स्य न्याय का विस्तार होने से समाज का विनाश हो जाता है। मनुष्य राजकीय दण्ड के अभाव में दुराचारी, लम्पट, लोभी, शराबी आदि होकर सामाजिक व्यवस्था को भंग कर देते हैं। राजसत्ता समाज के सभी अंगों को अनुशासित कर राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम करती है।[2] अरस्तू और प्लेटो ने राज्य की आवश्यकता के सिद्धान्त पर यूरोपीय दर्शन प्रस्तुत किया। इस्लामिक कानूनवेत्ता और लेखकों ने भी राज्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि, Low qualities and base morals, like cruelty, oppression, injustice and insurrection, have become a part of men's nature. Hence God has ordained that from amongst the people of the world on the right path, should keep them safe and secure.[3] अल्लाह ने समाज

1. अबुल फज़्ल, *आईने-ए-अकबरी,* भाग-1, प्रस्तावना, पृ० 2
2. हसन, इब्न, *दी सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दी मुगल एम्पायर,* पृ० 55-56
3. *वही,* पृ० 56

में एक हकिम-ए-आदिल बनाया जो आदम का औलाद (बच्चों) को नेक रास्ते पर चलाते हुए उनकी सुरक्षा व्यवस्था करे। न्यायकर्त्ता शासक के अभाव में बाहुबली अपनी ताकत और तलवार के बल से मनमाना व्यवहार करने लगते हैं। खून की नदियाँ बहने लगती हैं। इस तरह सब जगह अन्याय की आग पेड़-पौधों के साथ-साथ हरे-भरे वृक्षों को भी झुलसा देती है।[1] अबुल फज़ल ने भी राज्य की आवश्यकता का विश्लेषण करते हुए लिखा था कि, "If royalty did not exist, the storm of strife would never subside, nor selfish ambition disappear. Mankind being under the burden of lawlessness and lust, would sink into the pit of destruction, the world would loose, its prosperity and the whole earth become a barren of waste."[2] उपरोक्त वर्णन के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि समाज को अनुशासित करने तथा सुरक्षा प्रदान करने के लिए राज्य का होना आवश्यक माना गया। राज्य का सर्वोच्च राजा, अधिनायक, सुल्तान, बादशाह नामक व्यक्ति था जिसका प्रमुख कार्य अपने राज्य को सुरक्षा तथा व्यवस्था प्रदान करना था। ज़खीरात-उल-मलिक के अनुसार हकीम-ए-आदिल का काम कमजोरों को ताकतवरों के अत्याचारों से बचाना था। सियासतनामा में लिखा है कि अधिनायक, तकलीफों, फरेब और अत्याचार के द्वार बन्द करता है। अल्लाह के द्वारा उसका भय लोगों में व्याप्त हो जाता है। शासकीय न्याय से मनुष्य सद्आचरण करते हुए खुशहाली का जीवन बिताते हैं और दुष्ट दण्ड के भय से अपराध के मार्ग से विरत रहते हैं।[3] इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता के द्वारा सुरक्षित राज्य में लोग घर के द्वार आरक्षित छोड़ कर चैन से सोते हैं और स्त्रियाँ आभूषण पहन कर निर्भय सड़कों पर चलती हैं और सभी अपने कार्य ठीक प्रकार से करते हैं। विज्ञान कृषि और उद्योग का विकास होने से सम्पदा व धन धान्य की वृद्धि होती है। अबुल फज़ल के अनुसार एक सच्चे शासक के शासन का परिणाम सत्यवादिता, न्याय, विश्वास, स्वास्थ्य, स्वामिभक्ति, मृदुभाषिता, सद्आचरण आदि होते हैं। अबुल फज़ल ने लिखा है कि, "Rule and power, sword and conquest are for shepherding and doing the work of watch and ward, and not for gathering treasures of gold and silver or decorating the throne and diadem. The hearts of just rulers are an iron fortress and celestial armour for sincere lovers of peace and the life slaying sword and heart rending dagger for the seditious

---

1. हसन, इब्न, *दी सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दी मुगल एम्पायर*, पृ० 56
2. *आईने-ए-अकबरी*, भाग-2, पृ० 290
3. *आईने-ए-अकबरी*, तथा *अकबरनामा*, पृ० 132

and the wicked. The sum total of the desires of just princes is that all mankind and every creature should abide in peace and tranquility and should strive strenuously in obeying God in the way of well intentioned life."[1]

उपरोक्त दर्शन के आधार पर मानव जीवन, सामाजिक संस्था, धर्म तथा नैतिकता राजा के ऑफिस पर निर्भर करता था। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं कि इस प्रकार राजत्व के महत्त्व को प्रमुखता दी गई। राजा अपनी परिधि में सर्वोच्च हो गया।[2] राजनीति शास्त्र के लेखकों को राजा को सर्वोच्च बनाने से ही सन्तुष्टि नहीं हुई उन्होंने राजा को सर्वोपरि बनाने के लिए उसमें दैवी तत्त्व का समावेश कर दिया जिससे समाज और राज्य के नागरिक और कर्मचारी उसकी अधीनता स्वीकार करें। उसकी आज्ञाओं का पालन करें। अबुल फज़ल ने लिखा कि, royalty is a light emanating from God and a ray from the sun... modern language calls this light farr-i-izidi (the divine light) and the tongue of antiquity called it Kiyan Khwarah (the sublime halo). इस प्रकार अबुल फ़ज़ल ने राजत्व या पादशाहत के विषय में विचार व्यक्त किये उससे अकबर के राजत्व के सिद्धान्त की संकल्पना स्पष्ट होती है। बादशाह खुदा से निकलने वाली (फर्र-ए-इज़्दी) रोशनी है जिसे स्वयं खुदा ने पृथ्वी पर भेजा है। बादशाहत के गुण ऐसी रोशनी वाले व्यक्ति में स्वयं प्रवेश कर जाते हैं। एक आदर्श बादशाह खुदा की परछाईं होती है। बादशाह अपने राज्य में एक नियम कानून तथा उसके नियामक के रूप में निर्धारित लक्ष्य तथा स्वयं के विचार के अनुरूप प्रभुसत्ता स्थापित करता है। दैवी उत्पत्ति तथा फर्र-ए-इज़्दी, जिल्ले इलाही अकबर को विरासत में मिली। परम्पराओं तथा विचार उसके राजत्व के संघटक तत्त्व बने। इस परिप्रेक्ष्य में बादशाह अकबर की राजत्व के सम्बन्ध में मान्यता को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। बादशाह अकबर पादशाहत को मुस्लिम समुदाय या वर्ग अथवा अमीरों की ओर से भेंट नहीं मानता था। उसे खिलाफत (आध्यात्मिक प्रभुसत्ता) और पादशाहत (राजनीतिक प्रभुसत्ता) अर्थात् सल्तनत-ए-हकीकी तथा मजूज़ी-जन्मसिद्ध अधिकार तथा वंश-परम्परा के साथ-साथ योग्यता के आधार पर प्राप्त हुई। बदायूँनी ने अकबर के इस दावे को बादशाहत में आध्यात्मिक और धर्म निरपेक्ष दोनों तत्त्वों को समाहित करना कहा था। अबुल फज़ल का मानना था कि अकबर में वह सभी गुण थे जो लोगों को आध्यात्मिक आनन्द दिला सकते थे तथा संघर्षरत विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकते थे। इस राजत्व की संकल्पना पर अकबर का पितृ व्यवहार

1. *आईने-ए-अकबरी*, भाग-3, पृ० 466 तथा 703
2. हसन, इब्न, पू० उद्०, पृ० 58-59

प्रधान निरंकुश शासन स्थापित हुआ। अकबर सम्प्रदाय-निरपेक्ष नीति को अपनाने का साहस कर सका और अकबर संकीर्ण धार्मिक मनोवृत्तियों से ऊपर उठ सका। अकबर के इस राजत्व के सिद्धान्त पर अधिकांश मुस्लिम सम्प्रदायों ने आपत्ति नहीं की। इसका प्रमुख कारण शायद यह था कि अबुल फज़ल के दैवी सिद्धान्त को अकबर के राजत्व के सिद्धान्त में समाहित करने के कई सौ साल पहले उत्तरवर्ती अब्बासिद खलीफाओं की ताकत जब कमजोर होने लगा तो उन्होंने भौतिक प्रभाव जमाने के लिए भारी-भरकम धार्मिक उपाधियाँ धारण करना प्रारम्भ कर दिया था। खलीफाओं ने खुद को ईश्वर की परछाई तथा ईश्वर का प्रतिनिधि कहा था। सल्तनत काल में खलीफा अल मुस्तसिम की मंगोलों के द्वारा हत्या के बाद भारत का मुस्लिम शासक मुसलमानों के धार्मिक और लौकिक रक्षक के रूप में उभरा था।

तब से मुस्लिम शासकों की प्रतिष्ठा, भय तथा ताकत बढ़ाने के लिए उनके नाम व पदों के साथ ईश्वरीय बोधक उपाधियाँ लगाना प्रारम्भ हो गया। भारत में महर्षि मनु का देवी राजसत्ता का विचार पहले से ही विद्यमान था। अत: अकबर के राजत्व के सिद्धान्त में तीनों मनु, खलीफा तथा मुगल राजत्व के दैवी सिद्धान्त का समावेश हो गया। अकबर के राजत्व के सिद्धान्त में तीनों धाराओं ने मिलकर एक नई धारा का रूप ले लिया। कुछ सुन्नी पंथी मुसलमानों के अतिरिक्त सभी मुसलमानों ने इसे स्वीकार कर लिया।

अकबर के राजपद पर अधिकार को जब मिर्जा हाकिम ने चुनौती दी तब राजत्व के उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर यह कहा गया कि धनी, वंशानुगत होना अथवा समर्थकों की भीड़ जुटाने से कोई बादशाह नहीं बन सकता। प्रजा वत्सल (Paternal Love towards the subjects) जो करुणा, साहस, स्थिरता आदि गुणों से ओत-प्रोत हो; ईश्वर में निष्ठा (trust in God) भक्ति, प्रार्थना तथा (Devotion and Prayer) ईश्वर के प्रति समर्पण रखता है वही बादशाह बन सकता है। दु:ख और सुख में सम रहकर ईश्वर को याद करने वाला व्यक्ति ही खुदा की रोशनी को खुद-ब-खुद प्राप्त कर लेता है। बादशाहत ईश्वर (अल्लाह) की देन (नियामत) है। यह उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जिसमें उपरोक्त व अन्य ईश्वरीय गुण पूँजीभूत होते हैं।[1] इन ईश्वरीय तत्त्वों को सिफ्त-ए-कदसी कहा गया। अबुल फज़ल ने इन गुणों का विस्तार से उल्लेख किया।[2] उसने बादशाह को धार्मिक

---

1. *आईने-ए-अकबरी*, भाग-3, पृ० 4
2. "A few among holy qualities are magnanimity, exalted understanding, innate graciousness, natural courage, justice, recititude, strenuous labour, proper conduct, profound thoughtfulness and laudable overlooking of offences. Besides being courageous, just, benevolent and forgiving, the king must be above religious differ-

मतभेदों से ऊपर बताया तथा समयानुसार विवेकपूर्ण निर्णय वाला व्यक्ति बताया। बादशाह को भावना के स्थान पर जाँच-पड़ताल कराकर तार्किक ढंग से निर्णय लेने वाला बताया। अबुल फज़ल ने यह स्पष्ट किया कि उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त बादशाह में सार्वभौम शान्ति तथा सहनशीलता एवं सभी धर्मों को बराबरी के स्तर पर समझने की क्षमता होनी चाहिए अन्यथा वह सिफ्त-ए-कदसी के योग्य नहीं बन सकता।

अकबर के राजत्व के सिद्धान्त के बारे में पर्शिया के शाह को लिखे एक पत्र से भी ज्ञात होता है जिसमें लिखा गया था कि, "The section of mankind who are a divine deposit and treasure must be regarded with the glance of affection. It must be considered that divine mercy attaches itself to every form or creed, and supreme exertions must be made to bring oneself into the ever vernal flower garden of peace with all." अतः बादशाह जो खुदा की परछाईं है उन्हें इस सिद्धान्त की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।[1] इस वृत्तांत से स्पष्ट होता है कि अबुल फज़ल ने अकबर पादशाह की पादशाहत की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। अबुल फज़ल का विश्वास था कि अकबर में वह सभी दैवी गुण विद्यमान थे जो एक खुदा के नूर अथवा खुदा की परछाईं में होने चाहिए। अकबर बादशाह की बादशाहत एक सर्वोच्च, अविभाज्य, राजतंत्र के रूप में स्थापित हुई जिसमें पूरे राज्य का एक ही नियामक था तथा जिसके राज्य में एक ही प्रकार के नियम कानून व्यवहृत हुए। मुगल सम्राट अकबर का राजत्व का सिद्धान्त एकतंत्रीय स्वेच्छाचारी शासक के रूप में अभिव्यक्त हुआ। मुगल बादशाह अकबर अपने राज्य में न केवल एकमात्र अध्यक्ष वरन धर्माध्यक्ष भी था। इस्लामिक नियमों की सीमा में बादशाह के शब्द ही कानून माने गये जिनका अक्षरशः पालन किया जाता था। इस विशिष्ट स्थिति के कारण बादशाह के कुछ एकान्तिक विशेषाधिकार भी थे। जगदीश नारायण सरकार ने इन अधिकारों को निम्न भागों में विभाजित किया है—प्रथम संवैधानिक तथा प्रशासनिक, द्वितीय शिष्टाचार, रस्म-रिवाज तथा समारोह, तृतीय खेलकूद, मनोरंजन, आखेट विषयक विशेषाधिकार, चतुर्थ पादशाह के नाम से पढ़ी जाने वाली जुम्मे की नमाज। तसलीम, कोर्निश आदि के अधिकार। अकबर ने प्रथम विशेषाधिकार का प्रयोग 1579 ई० में महज़र के माध्यम से किया। अकबर ने

---

ences... he must bring choice deliberation to bear upon this work and do what is proper for the time... but the love of inquiry always precede and reason (Dalit Parasti) be his guide." देखें, *आईने-ए-अकबरी*, भाग-2, पृ० 285, 452-3, 285, भाग-3, पृ० 680, 421

1. *आईने-ए-अकबरी*, भाग-3, पृ० 659

महज़र के द्वारा 'इमाम' तथा 'अमरूल-मुमनीन' की उपाधियाँ धारण की। सिक्कों पर लेखक तथा 'खुतबा' में उसे खलीफा बताया गया। इस तरह अकबर ने अपने राजपद को तुर्की के खलीफा के प्रभाव क्षेत्र से बाहर कर लिया। यह अकबर का स्वतन्त्र सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने के लिए आवश्यक साहसिक कदम था। 1517 ई० में तुर्की के सुल्तान सलीम ने मिस्र पर आक्रमण करने के बाद अन्तिम शरणार्थी अब्बासी खलीफा को तुर्की उठा ले गया। ऐसी स्थिति में खलीफा को मान्यता देने का अर्थ तुर्को का प्रभुत्व स्वीकार करना था। अकबर ने चतुराई से मध्य एशियाई राजनैतिक हलचल से अपनी सत्ता को पृथक कर लिया। अकबर ने तत्कालीन खलीफा से अपना सम्बन्ध विच्छेद किया परन्तु इस्लाम के प्रथम चार खलीफाओं का नाम तथा 'कलमा' वह सिक्कों पर खुदवाता रहा। इस तरह इस्लामी परम्परा का निर्वाह करते हुए वह खलीफा के अधिकार से स्वतंत्र हो गया।

बादशाह के इस कार्य का दूसरा परिणाम यह हुआ कि वह उलेमाओं के प्रभाव को कम एवं राजत्व की ग़रिमा को बढ़ाने में सफ़ल हो सका। उलेमाओं का इस्लामिक राज्य में विशेष महत्त्व था। शरीयत के ज्ञाता तथा उसके अध्ययन के प्रति समर्पित व्यक्ति को उलेमा कहा जाता था। शासन के कार्यों में बादशाह को शरीयत व इस्लामिक कानूनों के विषय में सलाह देने का कार्य उलेमा करते थे। बादशाह का उलेमा से सम्बन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। योग्य उलेमा को सद्र (आधुनिक कानून वेत्ता) के पद पर नियुक्त किया जाता था। न्याय और दान का विभाग इनके पास होता था। अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में इस विभाग और सद्र के भ्रष्टाचार को देख कर उसके महत्त्व और शक्ति को कम करने का प्रयास किया। 1579 ई० में प्रकाशित महजर उलेमाओं की शक्ति पर नियंत्रण पाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अकबर ने उलेमाओं को रचनात्मक कार्य में लगा दिया। अब्दुल कादिर बदायूँनी आदि उलेमाओं को संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद करने में लगा दिया। महज़र के दो महीने बाद सद्र अब्दुनबी, मख्तमुल मुल्क, मुख्य काज़ी जलालुद्दीन मुल्तानी, मुख्य मुफ्ती सद्र-ए-जहाँ, शेख मुबारक तथा अन्य विद्वान उलेमाओं के हस्ताक्षर से एक घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया। इसमें घोषित किया गया कि "अकबर के काल में हिन्दुस्तान सुरक्षा और शान्ति का केन्द्र हो गया है। इस कारण अरब और ईरान के विद्वान हिन्दुस्तान में आकर बसने लगे हैं।" उलेमाओं ने घोषणा की कि, "अल्लाह, पैगम्बर तथा सिफ्त-ए-कदसी व्यक्तियों की आज्ञा का पालन करो। जो कोई अमीर (शासक) की आज्ञा मानता है वह वस्तुतः खुदा की आज्ञा मानता है। जो कोई उसके प्रति विद्रोह करता है वह खुदा के प्रति विद्रोह करता है। तर्क और बुद्धिमत्ता के प्रमाणों के आधार पर हम एकमत से सुलतान-ए-आदिल का दर्जा अल्लाह की नज़र में मुज़तहिद (इस्लामिक कानून

वेत्ता) से ऊँचा है। हम घोषणा करते हैं कि इस्लाम के बादशाह धर्मनिष्ठों के अमीर (शासक) पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिबिम्ब अब्दुल फतेह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर गाज़ी पादशाह अत्यन्त बुद्धिमान एवं अत्यन्त धर्मभीरु सम्राट है।'' उन्होंने यह भी घोषणा की कि यदि मुज़ताहिदों में किसी धार्मिक प्रश्न पर मतभेद हो जाए तो हम राज्य, जनता तथा अच्छे प्रशासन के हित में बादशाह का निर्णय मानेंगे। बादशाह अकबर यदि कोई नया आदेश जारी करेंगे तो हम उसे स्वीकार करेंगे, परन्तु वह आदेश कुरान के आदेशों के विपरीत नहीं होना चाहिए। महज़र में कहे गये तथ्यों ने सम्राट अकबर को राज्य तथा जनता के हित में नियम कानून बनाने का अधिकार देते हुए उलेमाओं के निर्णयों के ऊपर अकबर की परमसत्ता स्थापित करने का कार्य किया।

इस घोषणा ने अकबर को अपरिमित तथा अनियन्त्रित अधिकार प्रदान कर दिये। डॉ० विन्सेट स्मिथ ने इसे अमोघ आज्ञा पत्र inalliable Decree की संज्ञा दी।[1] तत्कालीन परिस्थिति में जब केवल इस्लाम के अनुयायी ही नहीं वरन् विभिन्न इस्लामिक पंथों और मध्य एशियाई मुस्लिम कबीले भारत में बसे हुए थे ऐसे समय में पंथ निरपेक्षता को स्थापित करना वक्त की माँग थी। महज़र अकबर के असीमित अधिकार नहीं वरन् विभिन्न इस्लामिक दलों की दलबंदी को रोकने का प्रयास कहा जा सकता है। डॉ० रायचौधुरी ने महज़र को एक राजनीतिक प्रपत्र बताया है। यह ईरान के शाह के राजनीतिक गौरव तथा धार्मिक प्रभुत्व को चुनौती थी। महज़र में जनता के हित शब्द का प्रयोग राजत्व की एक नई दिशा का बोधक था।[2] डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार, ''इस घोषणा पत्र ने निःसन्देह अकबर को विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की थीं परन्तु वह इससे इस्लाम का सर्वोच्च नेता बनने से तो दूर वास्तविक अर्थों में मुजाहिद भी नहीं बना था। इस प्रपत्र ने उलेमाओं को धार्मिक प्रश्न पर निर्णय देने से वंचित कर दिया था। वे न तो सम्राट के निजी जीवन सम्बन्धी बातों में हस्तक्षेप कर सकते थे और न देश की धार्मिक या राज्य कार्य सम्बन्धी किसी व्यवस्था में हस्तक्षेप कर सकते थे।''[3]

इंग्लैण्ड के इतिहास में हेनरी VIII ने रोमन चर्च के ऊपर राजा का प्रभुत्व स्थापित करने के लिये स्वयं को चर्च का अध्यक्ष घोषित किया था। "The English Gvernment throw off papal authority and Henry VIII styled himself the Church's supreme head."[4] हेनरी VIII की 1547

---

1. स्मिथ, वी०ए०, *अकबर दी ग्रेट मुगल,* पृ० 178–82
2. रायचौधुरी, *दीन–ए–इलाही,* पृ० 113–15
3. श्रीवास्तव, ए०एल०, *अकबर दी ग्रेट,* भाग–1, पृ० 243
4. एलिज़ाबेथ, जे०, *एलिज़ाबेथ दी ग्रेट,* फियोनिक्श पब्लिकेशन, पृ० 13

में मृत्यु हो गई। रोमन कैथोलिक चर्च तथा प्रोटेस्टेन्ट चर्च में कई सदी से खुन खराबा चल रहा था जिससे यूरोप के नागरिकों का जीवन खतरे में पड़ गया था। हेनरी VII के समय से चली आ रही सौ वर्षीय युद्ध, वॉर ऑफ रोजिज जो 30 वर्ष चली ने इंग्लैण्ड में तबाही मचा दी थी। इसलिये जब हेनरी VIII ने स्वयं को चर्च का अध्यक्ष घोषित करवाया तो किसी ने उसका विरोध नहीं किया। उसकी मृत्यु पर जनता बहुत दुःखी हुई क्योंकि "Henry VIII lived and died highly beloved of his subject they saw in the splendid figure of the king, with his power, his energy, his personal authority, a man who identified them with the modern world, and whose firm establishment on the throue was a reassurance against the horror and ruinof the past."[1]

इस्लामिक विवादों में घिरे शासन को राजनैतिक धरातल पर स्थापित कर शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में अकबर का महज़र प्राप्त करना Henry VIII के उपरोक्त कार्य समान था। जिसने राज्य को स्थिरता व समृद्धि प्रदान करने में सहायता दी।

महज़र की घोषणा से कुछ रूढ़िवादी मुसलमान तथा उलेमा नाराज हो गये। उनकी नाराज़गी का मुख्य कारण अकबर के भूमि सुधार तथा सैनिक सुधार एवं अन्य पन्थों के प्रति उदार व्यवहार था। अकबर के खुद खुत्बा पढ़ने से वह भयभीत हो गये। 1580 ई० में इन्होंने अकबर के महज़र की आलोचना की। जौनपुर के काज़ी मुहम्मद यज़्दी ने एक फतवा जारी किया कि अकबर इस्लाम की राह से बहक गया है। इसलिए सब मुसलमानों का कर्त्तव्य है कि उसके विरुद्ध अस्त्र धारण कर लें।[2] इसके बाद बिहार और बंगाल में विद्रोह हो गया। विद्रोहियों ने अकबर के दूध भाई मिर्जा हाकिम को भारत पर आक्रमण करने को आमन्त्रित किया। अन्य उलेमाओं ने उनका साथ न दिया। बिहार, बंगाल का विद्रोह दबा दिया गया। इस तरह महज़र पर आई विपत्ति टल गई और एक यह बात भी साफ हो गई कि उलेमा स्वार्थवश भी धर्म के नाम पर फतवा देकर राजनीतिक अस्थिरता पैदा कर सकते थे। जिस पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो गया था।

जहाँ तक इस्लाम के प्रति अकबर की निष्ठा का प्रश्न है वह असंदिग्ध थी। इबादत खाने में होने वाले धार्मिक संवाद के समय अकबर ने कहा था कि, there were sensible men in all religions and abstemious thinkers... If some true knowledge was thus everywhere to be found, why should truth be confined to one religion or creed like Is-

1. एलिज़ाबेथ, जे०, *एलिज़ाबेथ दी ग्रेट*, फियोनिक्श पब्लिकेशन, पृ० 17
2. श्रीवास्तव, ए०एल०, *अकबर दी ग्रेट*, भाग–1, पृ० 243

lam which was comparatively new and scarcely a thousand years old."

1586 ई० में मध्य एशिया के शासक अब्दुल्ला खाँ उजबेक को एक पत्र में अकबर ने अपनी विदेश नीति के साथ धर्म सम्बन्धी धारणा का खुलासा करते हुए लिखा कि मित्र और शत्रु तथा अजनबी सभी के लिए उसके हृदय में भलाई और शुभकामना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 1594 ई० में ईरान के शाह को अपनी धार्मिक नीति के बारे में लिखा है कि हर प्रकार के धर्म में ईश्वरीय कृपा निहित है और सुलह कुल के सदाबहार पुष्प का उद्यानों में प्रवेश के लिए भरपूर प्रयत्न किया जाना चाहिए। 1598 ई० में अब्दुल्ला खाँ उजबेग को पत्र में अपने विचार प्रकट करते हुए अकबर ने लिखा कि अपने निजी हितों से ऊपर उठकर मानव जाति की सुख-शान्ति के लिए प्रयत्न करना उसके जीवन का लक्ष्य था।

अकबर यूँ तो वास्तविक सम्प्रभु था। वह अपने साम्राज्य का केन्द्र बिन्दु था। शासन की सभी इकाईयाँ उसकी राज्य शक्ति को दृढ़ करने का कार्य करती थी। सर्वशक्तिमान सर्वोपरि होने के बाद भी सम्राट अपनी नीतियों तथा आज्ञाओं के कार्यान्वयन के लिए कर्मचारी तन्त्र (अमीर-उमरा वर्ग) पर निर्भर था। अकबर के शासन काल में अमीर-उमरा वर्ग भिन्न-भिन्न देश-प्रदेशों का था। अकबर उनका सम्मान बड़े-बड़े मनसब, पद, उपहार इत्यादि देकर करता रहता था। इन्हीं के साथ बादशाह के परिवार के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होते थे। राजनीति, शासन तथा मनोरंजन इत्यादि बादशाह इन्हीं के सहयोग से करता था। अकबर के काल में उमरा वर्ग संगठित न हो सका था। यद्यपि उसने कई बार विद्रोह करने का साहस किया था। अमीर-उमराओं की स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर अंकुश तो था पर वह सदैव ऐसे अवसर की ताक में रहते थे जब वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकें। सलीम (जहाँगीर) को अकबर के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए इन्हीं अमीर-उमराओं ने उकसाया तथा उसका साथ दिया था। बादशाह अकबर के काल में अपेक्षाकृत कम विद्रोह हुए। अकबर ने समयानुसार उन अमीरों के प्रति कठोर कार्यवाही भी की जैसे महामअनगा के पुत्र अधमा खाँ को कई बार उदारता से क्षमा दान भी दिया।

अकबर के शासन काल में जनता सम्राट को ईश्वर का प्रतिनिधि मानती थी। उसकी आज्ञा का पालन करती थी। बादशाह झरोखा-ए-दर्शन, वेशभूषा, दरबार तथा शान-शौकत के प्रदर्शन से जनसाधारण में अपना गौरव स्थापित करते थे। बादशाह जनता की कठिनाईयों को दूर करने का प्रयत्न करते थे। मदद-ए-माश तथा दान आदि देते थे। बादशाह न्यायकारी था अत्याचारियों को दण्ड देता था। जनता का बादशाह की न्यायप्रियता में विश्वास था। वह उसे प्रजापालक मानती थी। अकबर ने अपनी सम्प्रभुता अपने शासन में प्रत्येक वर्ग पर स्थापित की और राजत्व के जिस सिद्धान्त को अपनाया उसके मुख्य तत्त्व—दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, खुदा की

परछाई, आध्यात्मिक तथा रूहानी प्रभुसत्ता, राजतन्त्रात्मक सरकार थे। बादशाह अकबर के राज्य सम्बन्धी सैद्धान्तिक संकल्पना और उसके व्यावहारिक प्रतिफलन का समान महत्त्व था। अकबर के उत्तराधिकारियों के काल में इसमें आंशिक परिवर्तन ही दिखाई देता है। अतः मुगल काल की अधिकांश सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक तथा धार्मिक विशेषताएँ अकबर के काल में परिष्कृत हो गई थीं। निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि अकबर के शासन काल में पादशाहत की संकल्पना न केवल विस्तार पाकर पूर्णता और निश्चिंतता पर पहुँची वरन् उसे एक नया और विशिष्ट महत्त्व भी प्राप्त हुआ।

जहाँगीर का राजत्व का सिद्धान्त

अकबर ने अबुल फज़ल के माध्यम से राजत्व के सिद्धान्त की जिस संकल्पना को पुष्ट किया उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर ने उसे आगे बढ़ाया। जहाँगीर भी राजत्व को ईश्वर की देन समझता था। जहाँगीर के राज्यारोहण के समय जहाँगीर का कोई भी भाई जीवित नहीं था। लेकिन जहाँगीर के बादशाह के अधिकार को उसके अपने पुत्र खुसरो ने चुनौती दी। दरबार के वरिष्ठ मनसबदार अज़ीज कोका तथा मानसिंह खुसरो के प्रमुख सहायक थे। इसके अतिरिक्त बहुत से अमीर-उमरा उसके साथ थे। जहाँगीर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र तथा उसके समर्थकों की कटु आलोचना करते हुए राजत्व के सिद्धान्त पर विचार प्रकट करते हुए कहा था कि राजत्व और शासन कुछ विद्रोहियों द्वारा किसी को प्रदान नहीं किया जा सकता। खुदा यह पद जिस व्यक्ति को योग्य समझता है देता है।[1] उसने खुसरो के विद्रोह को निर्ममता से दबा दिया। जहाँगीर ने बादशाह की सर्वोच्चता तथा सम्प्रभुता बनाये रखी। उसने किसी खलीफा से मान्यता प्राप्त नहीं की। जहाँगीर का ईश्वरीय प्रकाश व ज्योति के विषय में अकबर की तरह की ही धारणा थी। वह बादशाह को खुदा का नूर कहता था। वह इससे इतना प्रभावित था कि गद्दी पर बैठने पर उसने 'नुरुद्दीन जहाँगीर' की उपाधि धारण की। यहाँ तक उसने मेहरूनिसा से विवाह करके उसे पहले 'नूरमहल' और फिर नूरजहाँ की उपाधि दी। उसने अपने प्रिय हाथी को 'नूर-ए-पील' प्रिय घोड़े को 'नूर-ए-अस्प' कहा, यह मात्र संयोग कहा जा सकता है। परन्तु इससे नूर के प्रति आकर्षण स्पष्ट होता है।

जहाँगीर के बादशाह बनने पर कुछ रूढ़िवादी उलेमा अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। इन उलेमाओं का नेता मुल्लाशाह अहमद था। मुल्ला शाह अहमद ने राज्य के उच्चपद प्राप्त धर्माधिकारियों को पत्र लिखा कि बादशाह जहाँगीर के शासन काल के प्रारम्भ में

1. *तुज़ुके जहाँगीरी*, पृ० 51

ही धार्मिक नीति में परिवर्तन करवाना आवश्यक है, क्योंकि बाद में कुछ करवाना कठिन हो जायेगा। उन्होंने बादशाह जहाँगीर पर नीति में परिवर्तन करने के लिए दबाव डाला। जहाँगीर ने शेख फरीद को ऐसे चार विद्वान नियुक्त करने का आदेश दिया जो साम्राज्य में शरा के विरुद्ध होने वाले कार्यों को रोक सकें। मुल्ला अहमद ने इस आदेश का विरोध किया। उसने कहा कि ऐसे चार विद्वान मिलना कठिन है जो किसी बात पर एक मत हो सकें। विद्वानों के बारे में विश्लेषण कितना आश्चर्यजनक है कि जब विद्वान एकमत नहीं हो सकते तो शरा की व्याख्याओं में अन्तर स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में साम्राज्य में किसी कार्य को शरा विरुद्ध कार्य तय करना कठिन था। मुल्ला अहमद ने सुझाव दिया कि इस कार्य के लिए एक ही विद्वान नियुक्त किया जाय। जहाँगीर पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। रूढ़िवादी उलेमाओं को अकबर की अपेक्षा जहाँगीर पर अधिक विश्वास था। प्रारम्भ में जहाँगीर ने अपनी राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए उलेमाओं को प्रसन्न रखने के लिए मुसलमानों के हित पर अधिक ध्यान दिया। किन्तु अकबर की धार्मिक नीति में परिवर्तन नहीं किया। जहाँगीर ने उलेमाओं से प्रभावित न होकर उन पर नियंत्रण रखने में सफलता प्राप्त की।

समकालीन ग्रन्थों में जहाँगीर को कहीं इस्लामी तथा कहीं अकबर की तरह धर्मसहिष्णु कहा गया है। इस कारण कुछ आधुनिक विद्वान जहाँगीर को सहिष्णु एवं अकबरी परम्परा का मानते हैं। उनका मत है कि कुछ घटनाओं को छोड़कर जहाँगीर ने साधारणतया सहिष्णुता की नीति अपनाई। उसने अपनी आत्मकथा में अकबर की सुलहकुल की नीति की प्रशंसा की है। इसके विपरीत डॉ० कुरैशी का मत है कि 'तुज़के जहाँगीरी' में कुछ ऐसे अंश हैं जिसके आधार पर उसे इस्लामिक शासक माना जाना चाहिए। कुछ अंशों की सम्पूर्ण शासन काल के सन्दर्भ में विवेचना करने पर ही वास्तविकता का ज्ञान हो सकता है।

जहाँगीर जनता में एक न्यायप्रिय बादशाह के रूप में लोकप्रिय था। उसने अपने महल के बाहर एक जंजीर लटकवाई थी। वादी उस जंजीर को खींच कर न्याय की माँग कर सकता था। यह बात विवाद का विषय है कि क्या आम जनता जंजीर तक पहुँच पाती थी? लेकिन इसका प्रभाव यह हुआ कि कानून का भय तथा न्याय की आशा की किरण फैल गई।

शाहजहाँ का राजत्व का सिद्धान्त

शाहजहाँ ने अकबर द्वारा स्थापित राजत्व के सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं किया। वह बादशाह के दैवी सिद्धान्त में विश्वास रखता था। शाहजहाँ के इस विश्वास का पता गोलकुंडा के सुल्तान को लिखे पत्र से मिलता है जिसमें उसने

लिखा था कि बादशाह ईश्वर की प्रतिछाया होता है।[1] शाहजहाँ के दूत खाँ आलम ने ईरान के शाह से शाहजहाँ के राजत्व सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा कि मुगल सम्राट शाहजहाँ पृथ्वी का ईश्वर है। प्रसिद्ध समकालीन संस्कृत के विद्वान पण्डिराज जगन्नाथ ने शाहजहाँ के सम्मान में लिखा था—

दिल्लीश्वरों वा जगदीश्वरों वा।
धनेन माँ पूरयितुं समर्थः ॥
अन्यै नृपालैः परिदीयमानं।
शाकं वा स्यात् लवणं वा स्यात् ॥[2]

अर्थात् दिल्ली का शासक शाहजहाँ मुझे धन से सन्तुष्ट कर सकता है जबकि अन्य शासक मुझे अधिक से अधिक शाक तथा नमक ही दे सकते हैं।

शाहजहाँ ने राजत्व के वंशानुगत अधिकार को चुनौती देते हुए 1622 में विद्रोह हो गया। जिससे मुगल राजत्व के सिद्धान्त को युवराजों से ही खतरा पैदा हो गया। महाबत खाँ और नूरजहाँ की समझदारी से विद्रोह दबा दिया गया। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम वर्षों में शाहजहाँ के पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए युद्ध प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब ने शाहजहाँ को अपदस्थ कर कारागार में डाल दिया। बादशाह के जीवित होते हुए भी उसके पुत्र के नाम खुत्बा पढ़ा गया, इसने मुगल राजत्व के सिद्धान्त पर कड़ा प्रहार किया। उत्तराधिकार एक प्रश्न बन गया। उत्तराधिकार के लिए युद्ध द्वारा शक्ति परीक्षण होने लगा। जिसने दरबार को दलबन्दी और शासन को अराजकता के हवाले कर दिया। इसका दूरगामी परिणाम मुगल साम्राज्य का पतन तथा विघटन में हुआ।

मुगल राजत्व में शाहजहाँ का हिन्दू माता से जन्म (शाहजहाँ की माँ जगत गोसाई मोतीराजा की पुत्री) लेने के कारण बादशाह पद से विलग नहीं किया गया और न ही इसने किसी विवाद को जन्म दिया।

बादशाह शाहजहाँ के शासन काल में अमीर–उमरा बादशाह की सत्ता से डरते थे और उसके गौरव का सम्मान करते थे। लेकिन मनसबदारों ने अमीर–उमरा के साथ मिलकर अपने दल बना लिए थे। शाहजहाँ के शासन में महाबत खाँ का विद्रोह इसी का प्रतिफल था। लेकिन इस समय तक किसी भी उमरा या मनसबदार में इतना साहस नहीं था कि सम्राट को पदच्युत कर स्वयं बादशाह बन जाए। अथवा सिंहासन पर बैठ जाय। शाहजहाँ के समय अमीर–उमराओं पर बादशाह का नियंत्रण था। वह अधिकांशतः स्वामीभक्त थे।

---

1. इब्नहसन, पू० उद्०, पृ० 59
2. रायचौधरी, *स्टेट एण्ड रिलीजन इन मुगल इण्डिया*, पृ० 217

शाहजहाँ के उलेमाओं से सम्बन्ध मुगल राजत्व के सिद्धान्त के अनुरूप थे। शाहजहाँ ने युवराज के रूप में जहाँगीर की धार्मिक नीति के प्रति विरोध प्रकट करके उलेमाओं की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयास किया। गद्दी पर बैठने के बाद शाहजहाँ ने रूढ़िवादी उलेमाओं को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया। शाहजहाँ के शासन के प्रथम दस वर्षों में बादशाह का झुकाव उलेमाओं की तरफ था। उसके बाद पुनः धार्मिक सहिष्णुता की नीति स्थापित हो गई। इसमें शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शाहजहाँ खुद को मुस्लिम शासक मानता था। शाहजहाँ की शासन नीति में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। शाहजहाँ के राजत्व के सिद्धान्त में बादशाह धर्म से ऊपर तथा प्रजा को समान समझता है से भिन्नता दिखाई पड़ती है। जिसका प्रभाव प्रजा के धर्म के आधार पर वर्गीकरण के रूप में देखा जा सकता है।

शाहजहाँ के शासन काल में बादशाह की शान-शौकत, चमक-दमक, गौरव और प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि को जनता ने सराहा। उसके समय जनविद्रोह नहीं हुआ। लेकिन अतिशय भव्यता ने बादशाह को प्रजा पालन के दायित्व से अलग कर दिया। जिसका परिणाम उत्तराधिकार के युद्ध तथा जनता की बादशाह के प्रति उपेक्षा में लक्षित हुआ।

औरंगजेब का राजत्व का सिद्धान्त

शाहजहाँ के शासन के अन्तिम वर्षों में उसके चार पुत्रों में (दारा, शुजा, औरंगजेब तथा मुराद) 1656 में उत्तराधिकार की लड़ाई प्रारम्भ हो गई। शाही सेना गद्दी के दावेदारों में बँट गई। शाही सेना की एक टुकड़ी ने शहंशाह शाहजहाँ को बन्दी बना लिया। औरंगजेब अपने भाईयों तथा भतीजों को मौत के घाट उतार कर बादशाह बना। सेना का महत्त्व उत्तराधिकार के युद्धों से अत्यधिक बढ़ गया। शहंशाह शाहजहाँ के जीवित होते हुए दूसरे व्यक्ति के नाम का खुतबा पढ़ने से सद्र ने इन्कार कर दिया। औरंगजेब ने उस सद्र (सैय हिदायतउल्लाह) को हटा दिया और उसके स्थान पर दूसरे व्यक्ति को सद्र नियुक्त किया। नये सद्र ने औरंगजेब के नाम का खुतबा पढ़ा।[1]

बादशाह के जीवित रहते हुए ही राजसत्ता के लिए युवराजों का विद्रोह तथा उत्तराधिकार के लिए युद्ध एक परम्परा बन गई जो औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में भी प्रचलित रही। लेकिन इसमें महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि राजत्व का अधिकार बाबर के वंश तक ही सीमित रहा।

औरंगजेब एक कट्टर सुन्नी मुसलमान माना जाता है लेकिन उसने भी राजत्व को खलीफा से पृथक तथा स्वतन्त्र रखा। उसने खलीफा को मान्यता नहीं दी।

---

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 17

औरंगजेब का उत्तराधिकार का युद्ध धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। कट्टरपंथियों अमीर उमरा शाहजहाँ से निराश होकर औरंगजेब के चारों ओर एकत्र होने लगे। औरंगजेब का व्यक्तिगत रुझान भी रूढ़िवादियों की तरफ था। दाराशिकोह उदार सहिष्णु विचारों का था। औरंगजेब ने दारा से अपने युद्ध को धार्मिक रूप देकर उलेमाओं को अपने पक्ष में कर लिया। संघर्ष के दौरान सैयद जैसे धार्मिक लोग दारा के पक्ष में थे और राजपूत उमरा औरंगजेब के साथ। फिर भी इस युद्ध ने यह संकेत दिया कि अकबर द्वारा स्थापित सहिष्णु 'सुलहकुल' की नीति का अन्त निकट है। रूढ़िवादी प्रवृत्तियाँ बलशाली होंगी। औरंगजेब ने जिस प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया उससे मुगल राजत्व के स्वरूप में परिवर्तन हो गया। उसने इस्लामिक धर्म सापेक्ष राजतन्त्र स्थापित करने का प्रयास किया। औरंगजेब के शासन में कट्टरपंथ (इस्लाम) को संरक्षण मिला तथा उसका प्रसार बढ़ा।

औरंगजेब के पुत्र अकबर ने (औरंगजेब की तरह ही) 1681 में अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अकबर ने खुद को पादशाह घोषित कर दिया। जिस तरह औरंगजेब ने उत्तराधिकार के युद्ध में अपने भाई दारा के विरुद्ध उलेमाओं की सहायता ली थी। उसी तरह अकबर ने उलेमाओं को अपने पक्ष में कर लिया। चार मुल्लाओं ने एक फतवा जारी किया जिसमें बादशाह औरंगजेब पर यह आरोप लगाया कि उसने इस्लाम धर्म का उल्लंघन किया है। कितना आश्चर्य है कि जो कट्टर सुन्नी मुसलमान के रूप में प्रसिद्ध था उस पर ऐसा आरोप लगाया गया। औरंगजेब की शासन नीति भी इस्लाम परस्त थी उसने बहुसंख्यक प्रजा पर तीर्थयात्रा कर लगा कर, मन्दिर तोड़कर, जजिया लगाया। इस तरह उसने एक कट्टर मुस्लिम शासक की तरह व्यवहार किया। ऐसे व्यक्ति को उलेमाओं द्वारा फतवा देकर पदच्युत करना कहाँ तक ठीक था? इसका एक अर्थ समझ में आता है कि औरंगजेब के काल से कट्टरपंथी उलेमाओं का राजनीति पर प्रभाव बढ़ने लगा था। उलेमा मुगल राज्य को इस्लामिक राज्य का स्वरूप दिलाने के लिए प्रयत्नरत थे। यद्यपि उलेमाओं को इसमें अधिक सफलता नहीं मिली लेकिन जैसे-जैसे बादशाहों की शक्ति कम होने लगी इनका प्रभाव क्षेत्र विस्तृत होता गया।

औरंगजेब ने जैसा कि ऊपर लिखा गया है, अपने राज्य का संचालन शरीयत के आधार पर किया वह खुद को एक आदर्श मुस्लिम शासक प्रमाणित करना चाहता था। उसने भी मुगल राजसत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखा। उसने किसी खलीफा या अन्य शक्ति से मान्यता प्राप्त नहीं की। राजनैतिक कारणोंसे उसने मुसलमानों को कठोर दण्ड दिया। दक्षिण में अपनी शक्ति के प्रसार के लिए दक्षिण के शिया मुस्लिम शासकों से ऐसे ही युद्ध किया जैसे मराठों से। इन युद्धों में मुगल सेना के सैनिक हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही थे। व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम धर्म का कट्टरता से निर्वाह करते हुए मुगल शासन में एकरूपता तथा राजशक्ति को सर्वोपरि रखा।

औरंगजेब के कमजोर, संघर्षरत, अयोग्य उत्तराधिकारियों ने राज्य सत्ता की सर्वोच्चता को बनाये रखा। औरंगजेब की शासन नीतियों में इस्लामिक सापेक्षता ने प्रजा को अत्यन्त (भावनात्मक) कष्ट पहुँचाया। जिसकी प्रतिक्रिया जनता के विद्रोहों में हुई। औरंगजेब के शासन से पूर्व जनता के विद्रोह नगण्य थे। औरंगजेब की नीतियों के विरुद्ध जनता ने सतनामी, सिक्ख और मराठा उत्कर्ष में सहयोग देकर सक्रिय भूमिका निभाई, जिसका परिणाम मुगल साम्राज्य के विघटन तथा विकेन्द्रीयकरण में हुआ।

संक्षेप में मुगल राजत्व का उद्देश्य मुगल बादशाह तथा मुगल साम्राज्य को गौरव तथा स्थिरता प्रदान करना था। मुगल शासकों ने स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया। अबुल फजल ने राजपद या पादशाह को खुदा का नूर, सूर्य की किरण बताया। अकबर ने कहा कि खुदा की परछाई होने के कारण हम लेते कम और देते ज्यादा हैं। जहाँगीर ने भी बादशाहत को खुदा का उपहार कहा था। जहाँगीर कहता था कि, सृष्टिकर्ता जिस व्यक्ति को राजा के भव्य और प्रतिष्ठापूर्ण पद के योग्य समझता है उसे दुनिया का राज्य प्रदान करता है। शाहजहाँ ने खुद को खुदा की परछाईं कहा। औरंगजेब खुद को धरती पर अल्लाह का प्रतिनिधि मानता था। इस प्रकार मुगल बादशाहों ने मुगल राजपद को मानवीय समझौता न मानकर दैविक वंशानुगत राजपद के रूप में स्थापित किया। अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब आदि ने केन्द्रीकृत सैनिक निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना की। राजपद अविभाज्य, बाह्य शक्ति से स्वतन्त्र सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राज्य के रूप में स्थापित हुआ। मुगल पादशाहों ने राजनीतिक या व्यवहारिक कुशलता के अनुसार राज्य व्यवस्था में तथा इस्लामी विधि निर्देशों में संगति बनाई। शरीयत की व्याख्या के बारे में मुगल बादशाहों के मन में कोई अर्न्तद्वन्द्व नहीं था क्योंकि वह सभी शिक्षित और स्वयं विधिवेत्ता थे। मुगल सम्राटों ने धर्म, राजकीय संस्थाओं, उलेमा और अमीरों के सहयोग से साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया। सभी बादशाहों ने साम्राज्य का विस्तार किया। उनके साम्राज्य में अमीर-उमरा तथा जनता के विद्रोह सल्तनत काल की तुलना में नगण्य थे। मुगल राजत्व के पुष्ट राजत्व के सिद्धान्त का प्रतिफल राजवंश की समृद्धि, विस्तार शान्ति व सुव्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है।

●

चतुर्थ अध्याय

मुगलों का केन्द्रीय प्रशासन

मुगल शासन तथा प्रशासनिक व्यवस्था की धुरी बादशाह था। राज्य का ढाँचा राजतंत्रीय तथा पूर्णतया केन्द्रीकृत था। मुगल साम्राज्य की स्थापना से लेकर मुगल साम्राज्य के ढहने की प्रक्रिया शुरू होने तक उसका ढाँचा मुख्यतया केन्द्रीकृत था, जिसमें शाही शक्ति ही मुख्य धुरी थी। पूरे साम्राज्य, सूबों, परगनों को वहीं से शक्ति प्राप्त होती थी। मुगल साम्राज्य की भौगोलिक सीमाओं में उसकी प्रभुता चलती थी। सम्राट को इसमें किसी दूसरे राज्य का हस्तक्षेप आपत्तिजनक था। पूरा साम्राज्य एक ही प्रकार के राजनैतिक, आर्थिक तथा व्यापारिक नियम कानूनों से बँधा हुआ था। इन नियमों का अनुपालन कराने के लिए अफसरों और कर्मचारियों का एक सक्षम तन्त्र था। विदेशी तथा बाह्य मामले केवल मुगल बादशाह ही निपटाते थे। राजनीतिक दृष्टि से उनका यह अधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था जिसका मुकाबला कोई अन्य नहीं कर सकता था। उनके ही आधीन नयाचार की एक नियमित व्यवस्था थी जिसके अनुसार अन्य स्वायत्त राज्यों से तथा विदेशों से राजदूतों का आदान-प्रदान होता था। बाह्य राज्यों तथा विदेशों के साथ सन्धियाँ पादशाह ही करते थे। बाह्य आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने का उत्तरदायित्व भी बादशाह का था। मुगल बादशाह विदेशी खतरे का मुकाबला करने में पूर्ण सक्षम था। मुगल साम्राज्य (प्रान्तों) सूबों, सरकारों तथा परगनों में बँटे हुए थे। इनकी सीमाओं का निर्धारण प्रायः भौगोलिक, युद्धनीति और प्रशासनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता था। जो परिवर्तनीय थे। जिनमें लगान तथा अन्य कर वसूली के बाद मुगल राज्यकोष में जमा किए जाते थे। कोई भी गैर सरकारी व्यक्ति तथा अभिकरण न तो कर की वसूली कर सकता था और न उसे अपने पास रख सकता था। राजनीतिक प्रशासनिक व्यवस्था के चार स्तर थे—शाही, माध्यमिक, क्षेत्रीय तथा स्थानीय।

मुगल साम्राज्य का कितना विस्तार था उसके प्रमाण उपलब्ध हैं। डॉ० इरफान हबीब ने मुगल साम्राज्य की 1556 से 1707 तक जो चित्रावली तैयार की है उससे मुगल साम्राज्य के विस्तार का ज्ञान प्राप्त होता है। इस चित्रावली में सूबों से लेकर गाँवों तक बँटे विभिन्न स्तरों के प्रशासनिक खण्डों के बारे में पता लगता है। साथ ही साथ केन्द्रीय सरकार, कितनी प्रभावशाली थी इसका भी अनुमान लगता है। सत्रहवीं

तथा अठारहवीं शताब्दी में केन्द्रीय सरकार का प्रशासनिक इकाईयों पर नियन्त्रण था। प्रशासनिक इकाईयाँ केन्द्र के प्रति उत्तरदायी थीं। जिसने भौतिक तथा सांस्कृतिक कार्य कलापों के लिए अवसर प्रदान किए। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जब केन्द्रीय सत्ता कमजोर होने लगी तो प्रशासनिक इकाईयाँ जैसे सूबे स्वायत्ता घोषित करने लगे। परिणाम यह हुआ कि मुगल साम्राज्य की परिधि (perifery) तो पुष्पित पल्लवित होती दिखाई देने लगी लेकिन धुरी पर धुंध छा गई। केन्द्रीय सत्ता पार्श्व में और सूबे तथा सूबेदार (foreground) सामने आ गये। मुगल साम्राज्य के अवसान की व्याख्या विलियम इरविन, डॉ० जे०एन० सरकार, डॉ० जेड०यू० मलिक, रूसी विद्वान् रेइसनर (Reisner) तथा बर्नाड एस० कोहन आदि ने अपने-अपने विश्लेषण के आधार पर की है। लेकिन इन व्याख्याओं से एक बात स्पष्ट है कि जब केन्द्र गौण और (बादशाहत) व्यक्ति प्रमुख तथा केन्द्रीय सत्ता गौण और सूबेदारी प्रमुख हो गई तब आपसी प्रतिद्वन्द्विता और अहंकार की आग में मुगल शासन के परखच्चे निकल गये।

इतने विस्तृत सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना के प्रमुख घटक क्या थे? उनका कार्यक्षेत्र तथा अधिकार क्षेत्र क्या था? इसका अध्ययन करने से ही उसकी प्रशासनिक पद्धति का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि बादशाह मुगल शासन का केन्द्र बिन्दु था इसलिए मुगल बादशाहों की उपाधियाँ विशेष अधिकार, दिनचर्या, झरोखा दर्शन, दीवाने खास, शाही महल आदि के बारे में जानना आवश्यक है।

मुगल सम्राटों का राज्यारोहण समारोह

डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि मुगल सम्राटों का राज्यारोहण इस्लामिक नीति की याद ताजा करता है। प्रत्येक नया मुगल सम्राट तख्तनशीन होकर अपने राज्यारोहण की घोषणा करता था। यह तख्त कैसा भी हो सकता था। उदाहरण के तौर पर अकबर ने मिट्टी के चबूतरे पर सम्राट पद की शपथ ली जबकि औरंगजेब ने मयूर सिंहासन पर बैठ कर सम्राट पद की शपथ ली। अतः सिंहासनारोहण कहीं भी सम्पन्न किया जा सकता था। उसके लिए सम्राट का राज्य की राजधानी में उपस्थित होना आवश्यक नहीं था जैसे मुगल सम्राटों का कालानोर में, दिल्ली तथा आगरा से दूर राज्यारोहण सम्पन्न हुआ। उसी तरह मुराद, शुजा, सलीम, खुर्रम का सिंहासनारोहण दिल्ली और आगरा से अन्यत्र हुआ। ताजपोशी के चबूतरे की ऊँचाई भूमि से तीन फुट ऊँची रखी जाती थी। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि मुगल सम्राटों की ताजपोशी धार्मिक उत्सव न होकर एक राजनैतिक समारोह था। समकालीन इंग्लैण्ड तथा यूरोपीय उपमहाद्वीप में ताजपोशी एक धार्मिक क्रियाकलाप

था, जबकि मुगल सम्राटों की ताजपोशी सैनिक, अधिकारी वर्ग और नागरिक समर्थन पर निर्भर एक लौकिक परम्परा थी और जहाँ कहीं भी यह सुनिश्चित होती थी मुगल सम्राटों का राज्यारोहण हो सकता था। नये सम्राट के गद्दी पर बैठने के बाद सभी दरबारी बादशाह सलामत का जयघोष करते थे जिससे सबको नये बादशाह के तख्तनशीन होने का समाचार मिल जाये।

नया सम्राट अपने को अतीत (युवराज पद) से पृथक करने के लिए नई उपाधियाँ धारण करता था। मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने अपनी पैतृक उपाधि के स्थान पर पादशाह की उपाधि धारण की। खानवा के युद्ध के पूर्व बाबर ने 'गाजी' की उपाधि धारण की थी। पानीपत के विजय के बाद जब बाबर ने काबुल के सब व्यक्तियों के लिए देहली के खजाने की लूट की दौलत भेजी तो वहाँ के लोगों ने बाबर को कलंदर की उपाधि दी। 1526 से 1707 तक भारत की गद्दी पर बैठने वाले मुगल सम्राटों के नाम तथा उपाधियाँ इस प्रकार हैं—जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर बादशाह गाजी; नासिरुद्दीन मुहम्मद हुमायूँ बादशाह गाजी; जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर बादशाह गाजी; अब्दुल मुजफ्फरनूरूद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी; साहब अलदीन मुहम्मद साहब करान-ए-थानी शाहजहाँ बादशाह गाजी;, अबुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब बहादुर आलमगीर पादशाह गाजी।[1] अपनी महानता प्रकट करने के लिए मुगल सम्राटों में अल-सुल्तानुस-आज़म (महान सुल्तान); अलखाकान अल मुअज्जम (प्रसिद्ध सम्राट); की उपाधियाँ धारण कीं। जहाँगीर ने अल सुल्तान अल-अली-अल-खलीफ़ात-अल-मुता-अली (महान सुल्तान प्रतिष्ठित खलीफा), साहब करान-ए-थानी जहाँगीर (विश्व विजेता), की उपाधि तथा शाहजहाँ ने (विश्व का शासक) आलमगीर (विश्व विजयी) की उपाधियाँ धारण कीं।

उपाधि धारण करने के बाद नये सम्राट को भेंट इत्यादि दी जाती थीं। बादशाह नयी नियुक्तियाँ करता था। नये सिक्के ढलवाने के लिये नये डिजाईन तथा लेख सुनिश्चित किये जाते थे। ताजपोशी के बाद आने वाले जुम्मे के दिन इमाम बादशाह सलामत के नाम का खुत्बा पढ़ता था। जुम्मे की प्रार्थना में बादशाह का नाम सम्मिलित कर लिया जाता था। अधिकांशतः सम्राट के नाम का खुत्बा पहली बार सद्र पढ़ता था। जुम्मे की नमाज़ में सम्राट के नाम का लिया जाना इस बात का प्रतीक था कि मुस्लिम समाज ने उसे अपना बादशाह मनोनीत किया था। डॉ० शर्मा ने इसे Passive election by faithfuls की संज्ञा दी है। अगर कभी इस बात का संशय पैदा हो जाये कि सम्राट का जुम्मे की नमाज में विरोध हो सकता था तो स्थिति के पक्ष में होने तक के लिए खुत्बे की नमाज स्थगित कर दी जाती थी जैसा कि औरंगज़ेब ने किया।

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*

उसकी ताजपोशी के बाद खुत्बे की नमाज तभी पढ़ी गई जब औरंगजेब ने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों का सफाया कर दिया। तख्त रिक्त नहीं रखा जा सकता था। इसलिए तुरन्त सहमति या ताजपोशी न होने की स्थिति में सम्राट की मृत्यु की खबर रोक ली जाती थी। हुमायूँ की मृत्यु के बाद उसके मरने का समाचार तीन दिन तक नहीं दिया गया। नये सम्राट की ताजपोशी पुराने सम्राट की मृत्यु के बाद ही हो सकती थी। लेकिन औरंगजेब ने बादशाह सलामत शाहजहाँ के जीवित रहते हुए ही ताजपोशी करा ली। सद्र के खुत्बा पढ़ने से इन्कार करने पर उसे उसके पद से हटा कर नये व्यक्ति को सद्र बना दिया जिसने औरंगजेब के नाम का खुत्बा पढ़ दिया।[1] इस तरह मुगल सम्राटों का राज्यारोहण इस्लामिक पालिटी की परिधि में घूमता रहा जो किसी एक दिशा में कदम रखते हुए प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सका।

मुगल सम्राटों को कुछ विशेष सुविधाएँ तथा स्वत्व प्राप्त थे। इन सुविधाओं का प्रयोग अन्य लोगों के लिए वर्जित था। मुगल सम्राट की सेवा निरन्तर, 24 सौ घण्टे उच्च सेवाधिकारी नियत रहते थे। यह सेवा अधिकारी सम्राट की किसी भी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहते थे। वह जब भी आवश्यकता थी तो शाही (messenger) पत्रवाहक का कार्य भी करते थे। 24 घण्टे में एक बार प्रहरी दल अपने कमाण्डर के साथ बदल जाता था। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजंहाँ की सेवा में शाही संगीतकार पारा-पारी रहते थे। वह बादशाह को प्रातः ही मधुर गान गाकर नींद से जगाते थे और उसके बाद हर 3 घण्टे के अन्तराल पर संगीत के माध्यम से पहर की सूचना देते थे। बादशाह के दरबार में पधारने पर संगीतकार धुन बजाकर सूचित करते थे तथा उनकी आवभगत करते थे। जब कभी बादशाह विश्राम करना चाहते थे तो संगीतकार गीत गाते थे। औरंगजेब ने 1667 में संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इतिहासकारों ने लिखा था कि लय, सुर ताल तथा संगीत के विदा होने पर शाही महल उदास हो गये।

जुम्मे की नमाज अदा करने के लिए बादशाह पालकी पर सवारी करता था। अन्य सभी उच्च तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति बादशाह के साथ पैदल जाते थे। बादशाह जब महल से बाहर निकलता था तो नगाड़े बजाकर इसकी सूचना प्रसारित की जाती थी। जब कभी सम्राट किसी को घोड़ा अथवा हाथी भेंट करते थे तो वह व्यक्ति अपने सिर पर रास व हाथी का अंकुश रखकर भेंट स्वीकार करता था सम्राट किसी भी शाही फरमान पर हस्ताक्षर नहीं करता था। सभी शाही फरमानों पर सम्राट की मुहर होती थी। शाही फरमान अथवा शाही पत्र को बन्द करने के बाद मुहर लगाई जाती थी और उस पर कोई अधिकारी हस्ताक्षर नहीं कर सकता था। "The Emperor was the one fountain-head of honours and titles in the

1. देखें इसी पुस्तक का पृ० 38

imperially held territories."[1] बादशाह ही केवल प्रातः झरोखे में बैठकर प्रजा से सम्मान प्राप्त कर सकता था। तसलीम तथा कोर्निश का अधिकार भी सम्राट के पास सुरक्षित था। सम्राट के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति किसी मुगल को सेवा में खड़ा नहीं रख सकता था। दरबार में तख्त पर बादशाह ही बैठता था और सब दरबारी खड़े रहते थे। खुर्रम और दारा ही दो ऐसे कृपापात्र युवराज थे जिन्हें दरबार में कभी बैठने का सौभाग्य प्रदान किया गया था।

मुगल सम्राटों के लिये कुछ खेल भी विशेष रूप से सुरक्षित थे जैसे हाथी को ऊँची चट्टान से नीचे लुढ़काना जिसे मिहिरगुल कहते थे। हाथियों की लड़ाई, शेर का शिकार केवल बादशाह अथवा युवराज, राजपूत राजा अथवा बादशाह से अनुमति प्राप्त व्यक्ति ही कर सकते थे। शिकारगाह बादशाहों के मनोरंजन का साधन था। इसके लिए हजारों सुरक्षा सैनिक नियुक्त किए जाते थे। बादशाह द्वारा चिह्नित शिकार पर कोई और वार नहीं कर सकता था।

मुगल सम्राटों की इन विशेष सुविधाओं और विशेषाधिकारों पर जहाँगीर के एक फरमान से ज्ञात होता है, जो उसके शासन के छठें वर्ष में जारी किया गया। इस फरमान में लिखा गया था कि, "हमने पुनः यह बात सुनी कि सीमा पर सरदारगण ऐसे कार्य करते हैं जिस पर उनका किसी प्रकार का स्वत्व या सम्बन्ध नहीं है। वे नियम तथा प्रथाओं पर ध्यान नहीं देते। हमने आज्ञा दी कि बख्शीगण इन लोगों को आज्ञा भेजें कि सीमा के सरदारगण भविष्य में ऐसा काम न करें जो केवल बादशाहों के लिए निश्चित हैं जैसे झरोखे में न बैठें; सहायक सरदारों व शाही सेवकों को सम्मान, गारद देने या तस्लीम करने का कष्ट न करें; हाथी का युद्ध न करायें; अन्धा करने या नाक, कान काटने का दण्ड न दें; शाही सेवकों को कोर्निश या सिजदा करने को न कहें; किसी को बलात मुसलमान न बनायें; अपने नौकरों को पदवियाँ न दें; गायकों और वादकों को शाही दरबारों की प्रथा के अनुसार बाहर निकलते समय डंका न पिटवायें; अपने सेवकों को हाथी या घोड़ा उपहार दें तो लगाम और अंकुश उन पर रख कर तस्लीम न कराये; जुलूस की सवारी में शाही सैनिकों को पैदल साथ में न लें और यदि वह शाही सेवकों को पत्र लिखें तो अपनी मुहर उस पर न लगायें। ये नियम आईने जहाँगीरी में कहे गये हैं और अब प्रचलित हैं।"[2]

उपरोक्त फरमान से मुगल सम्राटों के स्वत्व विशेष अधिकारों के साथ-साथ मुगल अधिकारियों के अधिकार और उनकी कार्य-पद्धति का भी ज्ञान होता है। मुगल सम्राट अपने इन अधिकारों के प्रति बहुत सजग थे। अगर कोई सूबेदार,

---

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 27
2. *तुजुके-जहाँगीर*, भाग-1, पृ० 405

युवराज या शाही कर्मचारी अनाधिकार चेष्टा करता था तो उसे तुरन्त दण्डित करते थे। उदाहरणार्थ एक बार औरंगजेब जब अफगानिस्तान में था तो उसे समाचार मिला कि राजकुमार मुअज्जम बहादुर शाह ऊँचे चबूतरे पर बैठ कर दरबार करता था। औरंगजेब ने तत्काल दो चोबदारों को इस आदेश के साथ काबुल से रवाना किया कि जब राजकुमार दरबार के लिए ऊँचे चबूतरे पर बैठें तो उसे खींच कर चबूतरे से उतार दिया जाय और चबूतरा नष्ट कर दिया जाये।

मुगल सम्राटों की दिनचर्या

मुगल सम्राटों ने शासन तन्त्र को नियन्त्रित करने का प्रयास किया वहीं बादशाह के समय का प्रबन्धन भी किया। समय प्रबन्धन बादशाहों की दैनिक दिनचर्या को नियन्त्रित करता था। सम्राट अकबर ने बादशाहों की दिनचर्या की जो रूपरेखा तैयार की वह थोड़ी-सी फेरबदल के साथ मुगल साम्राज्य के अन्त तक चलती रही। अकबर ने स्वयं अपनी दिनचर्या में कम से कम दो बार परिवर्तन किया था।[1] जिसके कारण अकबरनामा और सरकारी पत्रावली में भिन्नता पाई जाती है। डॉ० श्रीराम शर्मा ने मुगल बादशाहों की दिनचर्या का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि, "The Mughal Emperors, working harder than most public servants are supposed to work today; they kept longer hours and observed fewer holidays."[2]

राजकीय कार्य सम्पादित करने के चार शाही तरीके थे—पहला सम्राट दीवाने खास में बैठ कर राजधानी के उच्च कर्मचारियों के साथ राजकीय कार्यों को देखता था। दीवाने आम में दूसरी बार नागरिक कार्य करता था, तीसरी बार वह रात्रि में व्यक्तिगत (प्राइवेट कक्ष) तौर पर कुछ विशिष्ट लोगों से गुप्त मंत्रणा करता था। चौथी न्याय का कार्य सप्ताह में एक बार करता था। सरकारी कार्य के विभाजन के साथ-साथ सम्राटों की दैनिक दिनचर्या भी नियत थी। यह दिनचर्या सम्राट अकबर ने निर्धारित की थी जिसका सभी उत्तराधिकारियों ने (आंशिक परिवर्तन) पालन किया।

अकबर सूर्य उदय से करीब 2 घण्टे पहले उठ जाता था। कुछ देर वह ध्यान तथा प्रार्थना करता था। नित्य कर्म से निवृत्त होकर नमाज पढ़ता था। राजसी पोशाक धारण करके लोगों को दर्शन देने के लिए झरोखे में उपस्थित होता था। झरोखा-ए-दर्शन का सम्राट की दिनचर्या में विशेष महत्त्व था। अकबर झरोखा दर्शन में चार घण्टे व्यतीत करता था। झरोखा दर्शन के बाद वह महल में चला जाता था। वह

---

1. *आईने अकबरी*, पृ० 155
2. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 28

महल में हरम की महिलाओं की समस्याओं का निराकरण करता था। इसके पश्चात् वह भोजन करता और थोड़ी देर विश्राम करता था। तीसरे पहर अकबर शाही पशुओं एवं शाही कारखानों[1] का निरीक्षण करता था। वहाँ वह लगभग एक घण्टा व्यतीत करता तथा आवश्यक निर्देश देता था। दीवान-ए-खास तथा दीवाने आम कभी-कभी सायंकाल तथा रात्रि में भी होता था। इतिहासकार बदायूँनी के अनुसार दीवान-ए-आम की बैठक रात में होती थी। जब कभी दरबार के समय में परिवर्तन होता तो उसकी सूचना नक्कारा बजा कर दी जाती थी। दीवाने आम का दरबार 2 घण्टे का होता था।

सम्राट अकबर रात में अपने विशेष विश्वसनीय व्यक्तियों के साथ बैठक करता था। इसमें साम्राज्य की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गम्भीर वार्ता होती थी। प्रशासनिक कार्यों के बाद यह सभा विद्वानों की सभा में परिवर्तित हो जाती थी जिसमें सांस्कृतिक विषयों पर चर्चा होती थी। यह सभा रात्रि तक चलती थी मुगल बादशाहों की दिनचर्या में झरोखा दर्शन, दीवाने आम, दीवाने खास तथा गुसलखाना (गोपनीय कक्ष) का विशेष महत्त्व था। जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब ने आंशिक परिवर्तनों के साथ इसी दिनचर्या का पालन करते हुए शासन किया।[2] बाद के सम्राटों की दिनचर्या में अनुशासन और नियमितता शिथिल होती चली गई।

मुगल सम्राटों की दिनचर्या का महत्त्व

मुगल बादशाहों की दिनचर्या का वर्णन बहुत विस्तार से मिलता है। इस दिनचर्या का मुगल शासन में विशेष महत्त्व था। मुगल बादशाहों के एक दिन में तीन बार राज्य कार्य देखने का प्रभाव यह हुआ कि प्रशासन चुस्त-दुरुस्त हो गया। झरोखा दर्शन अकबर की सूझ-बूझ का परिचायक था जिसने हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त कराने में बहुत सहायता दी। डॉ० इब्न हसन के अनुसार झरोखा दर्शन ने हिन्दुओं को प्रातः पवित्र जमुना में स्नान करके सूर्य पूजा करने तथा बादशाह सलामत के दर्शन से अपना दिन प्रारम्भ करने का सुअवसर दिया। जिसका अर्थ यह हुआ कि जनता बादशाह का दर्शन करने के लिए लालायित हुई तथा बादशाह की उपस्थिति ने प्रजा को अत्यधिक प्रभावित किया। शासक और शासित के बीच एक सम्पर्क बना तथा एक संवाद प्रारम्भ हुआ। "In short it appealed to the psychology of the people and stirred the imagination of the masses."[3] झरोखा दर्शन ने बादशाह, युवराजों, अमीरों तथा सभी राज्य के उच्च

---

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 28
2. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 17-18, विस्तृत विवरण के लिए देखें सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 93-94
3. Hasan, Ibn, *The Central Structure of Mughal Empire*, पृ० 87

पदाधिकारियों को प्रातः जल्दी उठकर दिनचर्या प्रारम्भ करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस तरह इस छोटी-सी प्रक्रिया ने सबकी दिनचर्या को नियमित करने का महान कार्य किया, जिससे शासन का कार्य नियमित हो सका।

दरबार में बादशाह जनता से मिलता था जिसने बादशाह और जनता के बीच की दूरी कम करके बादशाह को प्रजा और प्रजा को बादशाह को जानने-समझने का अवसर दिया। दिल्ली के सुल्तान साधारण प्रजा से नहीं मिलते थे। लेकिन मुगलकाल में यूरोपीय यात्रियों ने लिखा है कि प्रजा अपने राजा से किसी भी पहर में मिल सकती थी।[1] मुगल बादशाह खुले दरबार में काम करते थे। खुले दरबार में मुगल बादशाहों के कार्य करने का परिणाम यह हुआ कि अमीरों तथा सरकारी अधिकारियों के अनुचित दबाव, प्रभाव तथा षडयन्त्रों पर अंकुश लग गया। डॉ० इब्न हसन ने लिखा है कि, "When the matter was put before the king by a minister, or brought to his notice by any other official, all those who had the privilege to be near the king had the right of speaking and expressing their opinions on it. This practice further minimized the chances of domination of any particular person or clique at the court"[2]

गुसलखाना में राजा अपने परामर्श मण्डल से विभिन्न विषयों पर सलाह मशविरा करता था। इस प्रकार निर्णय लेने से पूर्व बादशाह को किसी मामले की पूरी जानकारी हो जाती थी। मुगल बादशाह अकबर यह भली प्रकार जानता था कि राज्य की स्थिरता प्रशासन पर निर्भर है। शासन की धुरी राजा होने के कारण बादशाह की दिनचर्या तथा अनुशासित जीवन तथा समय का सदुपयोग ही उसके राज्य का आधार है। अकबर ने बड़ी बुद्धिमत्ता से अपनी दिनचर्या को बनाया और उसका पालन किया। "The realization of this important fact forms the key-note to the measure of the success which the three great Mughal achieved."[3] जहाँगीर ने अपने शासन के प्रारम्भिक 20 वर्षों में राज्य का कार्य उपरोक्त दिनचर्या का पालन करते हुए बड़ी लगन तथा खुशी से किया। लेकिन बाद के वर्षों में उसकी पकड़ शासन पर ढीली हो गई। शाहजहाँ ने अपनी दिनचर्या नियमित रखी। तत्कालीन लेखकों ने लिखा है कि वह कोई भी काम कल पर नहीं छोड़ता था। डॉ० जे०एन० सरकार ने शाहजहाँ की दिनचर्या का विश्लेषण

---

1. इब्न हसन, पू० उद्०, पृ० 88 "It is hard to exaggerate how accessible he makes himself to all who wish audience of him. For he creates an opportunity almost everyday for the common people or for the nobles to see him and converse with him." *Abul Fazal*.
2. *वही*, पृ० पृ० 88
3. *वही*

करते हुए लिखा है, "The royal throne was not exactly a bed of roses even in those days. It was a strenous life that Shahjahan led and he gave peace, prosperity and contentment to his people."[1]

औरंगजेब तक मुगल बादशाहों की दिनचर्या नियमित थी लेकिन उसके बाद बादशाहों ने इस पर ध्यान नहीं दिया। जिससे समय का अपव्यय होने से शासन में ढिलाई और अनुशासन समाप्त होने लगा जो मुगल साम्राज्य के पतन का एक कारण बना।

मुगल सम्राट, उसके परिवार तथा हरम (हरम तथा रनिवास) की सुरक्षा एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करना सरकार का उत्तरदायित्व था। इसका प्रशासन अलग-अलग विभागों पर था जिसका सम्मिलित नाम शाही महली विभाग था।[2] यह विभाग शाही महल, हरम, मत्बख (शाही रसोईघर) किरकिराकखाना (वस्त्र) फर्राशखाना (शामियाना, तम्बू आदि) अब्दारखाना (जल, शराब आदि) मेवाखाना, कुरखाना (बादशाह के व्यक्तिगत हथियार) पीलख़ाना, अस्तबल, गऊखाना, शुतुरख़ाना (ऊँटखाना), नक्कारख़ाना, शाही पुस्तकालय तथा इस तरह के अनेक विभाग थे। प्रारम्भ में अकबर स्वयं इस विभाग की देखभाल करता था। 1583 में उसने महल के कार्यों में सहायता देने के लिए एक छोटी-सी समिति बना दी। इस समिति के सदस्य थे रायसाल दरबारी, करम उल्लाह, ख्वाजा अब्दुस समद और मुहम्मद अली खजांची। शहज़ादा मुराद इसका अध्यक्ष बनाया गया। इस विभाग का सम्बन्ध राजमहल तथा राज्य परिवार से था इसलिए सभी मुगल बादशाह इसके प्रबन्ध में व्यक्तिगत रुचि लेते थे।

मुगल सम्राटों ने नगरों का निर्माण कराया। नगरों में किले तथा महल बनवाये। इन महलों में जल तथा वायु का उचित प्रबन्ध कराया। महल के विभिन्न भवन सुख-सुविधा तथा ऐश्वर्य और विलास के साधनों से सम्पन्न थे। जिसका तत्कालीन ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन है। ये महल आज भी अपनी गौरवगाथा कहते हुए स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

मुगल सम्राटों ने शाही महल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कारखाने स्थापित करवाये। मध्ययुग में कारखाना शब्द राजसी संस्थानों जैसे—पशुओं के अस्तबल, चित्र विभाग, सुन्दर लेखन, जिल्दबँधाई, कुरखाना, पोशाकखाना, शाही रसोई घर इत्यादि के लिए प्रयुक्त होता था। कारखाना शब्द दो शब्द की सन्धि से बना है जैसे कार और खाना।[3] कार संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है क्रिया करने या रचने

---

1. सरकार, जे०एन०, *स्टडीज इन मुगल इण्डिया,* पृ० 15
2. श्रीवास्तव, हरिशंकर, *मुगल शासन प्रणाली,* पृ० 35
3. विस्तार के लिए देखें अष्टम अध्याय, पृ० 3

वाला अर्थात् कार्य और ख़ाना (फारसी का शब्द है) का अर्थ है घर या स्थान। जिसका अभिप्राय हुआ कार्य करने का स्थान। 18वीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति के बाद जिन कारखानों का निर्माण हुआ उनसे इनका स्वरूप इस दृष्टि से भिन्न था कि औद्योगिक इकाईयाँ मशीनों पर अत्यधिक निर्भर थीं, जबकि मध्ययुगीन कारखानों में मशीनें प्रारम्भिक स्तर की थीं और मानव श्रम व कार्यकुशलता का अधिक महत्त्व था। अकबर के काल में 100 से अधिक कारखाने थे जिनमें अस्त्र-शस्त्र, चित्रकला, कपड़े, बेल बूटे, बुनाई, कढ़ाई आदि का काम होता था। अबुल फज़ल ने लिखा है कि प्रत्येक कारख़ाना एक स्वतन्त्र नगर या एक छोटी रियासत की तरह मालूम होता था। आधुनिक औद्योगिक नगरों की तरह जैसे मोदीपुरम, टाटानगर इत्यादि हैं वैसे ही सम्भवतया उस समय कारखानों के आधार पर नगरों का निर्माण हुआ होगा। दस्तरूल अमल से सत्रहवीं सदी के इन कारखानों की स्थिति का पता चलता है। डॉ० सरकार ने मुगलकाल के 70 कारखानों का उल्लेख किया। कार्य के आधार पर मुगल काल के कारखानों को पाँच भागों में विभाजित किया गया है, प्रथम पशुओं से सम्बन्धित; दूसरा गोदाम, तीसरा विविध कलाओं से सम्बन्धित; चौथा शासन तथा दरबार से सम्बन्धित और पाँचवाँ सम्राट की व्यक्तिगत आवश्यकताओं से सम्बन्धित।[1]

मुगल बादशाहों के प्रभुत्व, शान-शौकत व शक्ति को बढ़ाने में शाही संस्थानों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। झरोखा दर्शन ने जनता को राजा के प्रति निष्ठावान बनाया और राजा प्रजा के प्रति सुहृदय हुआ। दोनों के बीच एक संवाद बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य झरोखा दर्शन ने किया। दरबार खास तथा गुसलखाना आदि ने बादशाहों को अपने अमीर उमराओं से परामर्श करने तथा नीति निर्धारण और योजनाओं का प्रारूप तैयार करने का अवसर दिया। मुगल बादशाहों की व्यक्तिगत उपस्थिति तथा सभी विभागों के निरीक्षण ने प्रशासन को सुचारु और व्यवस्थित किया। बादशाहों ने जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए न्याय पर विशेष ध्यान दिया जो राजतंत्र के स्थायित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक था। मुगल शासन इन विभिन्न कार्यों से सुव्यवस्थित एवं शक्तिशाली हुआ तथा सम्राट के गौरव और मान में वृद्धि हुई।

●

---

1. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 167-175, विस्तृत वर्णन के लिए देखिए परिशिष्ट

पंचम अध्याय

प्रशासनिक संरचना

मुगल जाति तथा परम्परा से तुर्क तथा संस्कृति और ट्रेनिंग से फारसी थे। उनके मूल तत्त्व अरबी, तुर्की और फारसी की कार्य प्रणाली से सामंजस्य स्थापित करते हुए परिपक्व हुए थे। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि "Thus the administrative system of the Mughals may be said to represent an amalgam of Turko-Persian and Arabian elements in an Indian setting."[1] मुगल बादशाहों ने भारत में जिस प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की उसकी धुरी स्वयं बादशाह था। डॉ० श्रीराम शर्मा ने बादशाह की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "The Mughal emperor thus formed the pivot on which the entire administration turned."[2] इस धुरी की परिधि सहायक अमीर सरदारों की थी जो शासन के कार्यों में सहायता देते थे। यह अमीर–सरदार विभिन्न अवसरों पर परामर्श देने, नीति निर्धारण में सहायता करने और बादशाह के आदेशों का पालन कराने का कार्य करते थे।

बाबर, जिसने भारत में मुगल राजवंश की स्थापना की थी, उसका सहायक वजीर निजामुद्दीन खलीफा था। खलीफा एक योग्य प्रशासक, स्वामिभक्त तथा अच्छा सैनिक था। मेहदी ख्वाजा बाबर का वकील तथा जेनउद्दीन सद्र था। निजामुद्दीन ने पानीपत, खानवा और चन्देरी के युद्धों में बाबर की महत्त्वपूर्ण सेवा की थी। बाबर की मृत्यु के पश्चात् उसने एक षडयन्त्र के द्वारा बाबर के पुत्र हुमायूँ को बादशाह बनने से रोकने का प्रयास किया। इस षडयन्त्र को हुमायूँ ने विफल कर दिया।

हुमायूँ के सहायक अमीरों में हिन्दू बेग तथा अमीर उवैस थे। काबुल से लौटने पर हुमायूँ ने कराचा खाँ को वजीर नियुक्त किया। कराचा खाँ ने अपनी शक्ति का प्रभाव बहुत बढ़ा लिया। हुमायूँ ने उसके पर काटने के लिए 1547 ई० में ख्वाजा गाजी को मुशरिफ–ए–दीवान के पद पर नियुक्त किया। हुमायूँ ने वजीर के कार्यों का विभाजन वित्तीय तथा शासकीय कार्यों में कर दिया। जिससे कराचा खाँ नाराज होकर कामरान, हुमायूँ के भाई के पास चला गया। 1548 ई० में हुमायूँ ने ख्वाजा कासिम को

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 95
2. शर्मा, श्रीराम, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 36–37

वजीर के पद पर नियुक्त किया। बाद में भ्रष्टाचार के कारण उसे पदच्युत कर दिया। 1551 से 1556 तक ख्वाजा सुल्तान अली वजीर-ए-तनफीज (ऐसा वजीर जो बादशाह की आज्ञा का पालन करता रहे) के पद पर कार्य करता रहा। हुमायूँ के भारत लौटने पर बैरम खाँ की स्थिति राज्य में अति विशिष्ट थी। वह युवराज अकबर का अतालिक था। लेकिन उसका कोई प्रशासनिक पद नहीं था। वह सेना के सेनानायक के रूप में प्रसिद्ध था। डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि हुमार्यू ने प्रशासन में उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति नहीं की उसने मात्र उच्चतम सेक्रेटरी ही नियुक्त किए थे।[1]

हुमायूँ की असामयिक मृत्यु के समय अकबर नाबालिग था। उसका ईट के चबूतरे पर राज्याभिषेक कर दिया गया। शासन का कार्य उसका अतालिक बैरम खाँ देखने लगा। बैरम खाँ ने मुगल साम्राज्य की स्थापना तथा सम्राट की शक्ति को स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। लेकिन अकबर ने शासन की बागडोर सम्भालते ही बैरम खाँ को अपने रास्ते से हटा दिया। डॉ० शर्मा ने लिखा है, "During Akbar's minority Bairam Khan acted as his regent, discharging all the functions of the head of the state in Akbar's name. As was but natural, the growing young man could not very long accept this state of things, nor could he remain permanently in gratitude for Bairam Khan's saving and expanding his Kingdom."[2] बैरम खाँ का पतन उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त बैरम खाँ का हठी स्वभाव तथा प्रशासक पर अनुचित दबाव, तथा शक्ति पाकर मदांध होना भी था। वह एक साधारण प्रशासन से ऊपर न उठ सका। वह न तो शासक वर्ग और न ही जनता का विश्वास जीत सका जिससे उसका पतन असम्भावी हो गया। डॉ० इब्न हसन ने बैरम खाँ के पतन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "Though Bairam Khan's services to the ruling family and the newly established kingdom of the Mughal cannot be ignored yet the events of his regime conclusively show that, after having got the strings of power into his hands, he failed to rise above the level of an ordinary adminstrator, and some of his actions were beyond doubt based on personal considerations, apart from political exigencies, or the needs of the state. By his lack of tact and statesmanship he failed to retain the confidence of the king and win the support either of the nobility or the public. ...His position became untenable and he was removed from office, and inspite of this loyalty, long

---

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 29
2. *वही*

service and devotion to Humayun and Akbar, he remains condemned for his short sightedness."[1] उसका पतन आने वाले वजीरों के लिये एक नसीहत दे गया कि शक्ति के असीमित उपयोग का यही परिणाम होगा। बैरम खाँ के बाद महामअनगा तथा बाद में मुनीम खाँ ने अकबर के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में शासन में महत्त्वपूर्ण शक्ति प्राप्त कर ली थी, परन्तु वह बैरम खाँ की तरह उसके अतालिक (regent) नहीं बन सके। मुनीम खाँ अकबर का वकील था जो अकबर की उपस्थिति में अकबर से आदेश प्राप्त करता था, लेकिन अकबर की अनुपस्थिति में वह राजा की तरह कार्य करता था। 1560 ई० से 1567 ई० तक मुनीम खाँ ने अकबर के वकील की तरह कार्य किया। अकबर ने मुनीम खाँ की लगाम कसने के लिए 1562 ई० में कमाल खाँ तथा 1563 में मुज़फ्फर खाँ को दीवान तथा वित्तीय मामलों को देखने का कार्य दिया। 1561-62 ई० के मध्य अतक खाँ ने कुछ महीने सह-वकील का कार्य किया। इन नियुक्तियों का परिणाम यह हुआ कि वकील बादशाह का एकमात्र मन्त्री नहीं रहा। अकबर ने अपने प्रशासन का पुनर्गठन किया। वकील का पद एक मानद पद बनकर रह गया। वकील और दीवान दोनों का कार्य दीवान ही सम्भालने लगा।[1] अकबर ने प्रशासन के मुख्य विभाग इस प्रकार बनाये—

1. वित्त विभाग—दीवान
2. महली विभाग—खाने समन
3. सेना का वेतन तथा खर्च विभाग—बख़्शी
4. कानून विभाग—काज़ी
5. धार्मिक दान इत्यादि—मुख्य सद्र
6. जन नैतिकता—मुहतसिब

इनके अतिरिक्त आतिश तथा दरोगा-ए-तोपखाना और गुप्तचर तथा डाक दरोगा-ए-डाक चौकी का विभाग था।

मुगल सरकार में वकील[2]

बादशाह का नाम	वकील का नाम	वकील का कार्यकाल	शासन का वर्ष
अकबर	शिहाबुद्दीन	1 वर्ष	6वाँ
	बहादुर खाँ		
	अतक खाँ	1 वर्ष	7वाँ
	मुनीम खाँ	5 वर्ष	7-12वाँ

1. इब्न हसन, पू० उद्०, पृ० 123
2. अकबर के शासन के प्रारम्भ से वकील पद के विकास तथा ह्रास का विस्तार से ज्ञान प्राप्त करने के लिये देखें हसन, इब्न, पू० उद्०

बादशाह का नाम	वकील का नाम	वकील का कार्यकाल	शासन का वर्ष
	मुजफ्फर खाँ	2 वर्ष	22-24वाँ
	खानखाना मिर्जा खान	कुछ माह	34वाँ
	खान-ए-आज़म मिर्जा अज़ीज कोका	10 वर्ष	40-50वाँ
जहाँगीर	अमीर-उल-उमरा शरीफ खान	1 वर्ष	पहला
	असफ खाँ कज़वीनी	3 वर्ष	2-4
	असफ खाँ अबुल हसन	1 वर्ष	21वाँ
शाहजहाँ	असफ खाँ अबुल हसन	14 वर्ष	1-15वाँ

इस तरह 97 वर्षों (1560-1657) तक केवल 14 वकील हुए जिनका कार्यकाल मात्र 39 वर्ष हुआ। यह वकील के घटते हुए महत्त्व तथा अक्सर पद खाली रहने और उनके बगैर ही शासन चलने की ओर इंगित करता है। अकबर ने वकील के पद के अधिकार एवं कर्त्तव्यों को चार मन्त्रियों दीवान या वजीर, मीर बक्शी, सद्र और मीर सामान में बाँट दिया।[1]

वित्त विभाग दीवान बनाम वजीर

दीवान शब्द फारसी मूल का है जो दबीर से लिया गया था। दबीर का अर्थ था लेखाकार अर्थात् आय-व्यय का हिसाब लिखने वाला। ग्रीस (सीरिया, इजिप्ट) फारस, अरब की विजय के बाद भी दबीर शब्द का प्रयोग होता रहा। अब्बासईद ख़लीफा ने खजाना तथा सरकार का कार्य भी दबीर को दे दिया था। इब्न खल्दून के अनुसार दबीर का प्रयोग ऐसे रजिस्टर के लिए होता था जिसमें वित्त अधिकारियों के लिए बनाये राज्य के सभी नियम-कानून दर्ज रहते थे। यह पर्शिया का पूर्ण नियोजित संगठित कार्यालय था। इसमें जमा-खर्च, आय-व्यय, पेन्शन तथा स्तरीकरण के विवरण रहते थे, जिससे किसी प्रकार की गलती न हो। ख़लीफा उमर ने दबीर के लिए दीवान शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया। इस विभाग के अन्दर राजस्व और वित्त आते थे। सल्तनत काल में इस शब्द का प्रयोग वजीर (दीवान) विभाग के लिए किया गया। मुगलों ने इसे राजस्व तथा वित्त विभाग तक सीमित रखा। हुमायूँ के समय वजीर का अर्थ किसी भी विभाग का मन्त्री हो गया। अकबर ने वजीर शब्द का कम प्रयोग किया।[2] जहाँगीर के शासन काल में यह शब्द साधारणतया प्रयोग

1. इब्न हसन, पू० उद्०, पृ० 140
2. डॉ० जे०एन० सरकार ने लिखा है कि, In Akbar's reign however, the prime minister was called designated as wakil, while finance

किया जाने लगा। शाहजहाँ के समय इस शब्द को निश्चित आकार-प्रकार मिला। उस समय वजीर को दीवान-ए-कुल कहा गया और उसके विभागीय मन्त्री 'दीवान' कहलाये। वजीर शब्द का प्रयोग केवल बादशाह के वित्त मन्त्री के लिए तथा दीवान शब्द का प्रयोग प्रान्तों के राजस्व अधिकारी, जागीरदारों, मनसबदारों के वित्तीय प्रबन्धकों के लिए किया जाता था। वकील के पद के पतन के बाद दीवान का पद जिसके पास वित्तीय नियन्त्रण था शनैः-शनैः शक्तिशाली होता गया। उसने वकील के पद को आच्छादित कर दिया।

दीवान बादशाह के बाद सबसे शक्तिशाली व्यक्ति था। वित्तीय मामलों में वह बादशाह का प्रथम सहायक था। अबुल फ़जल ने दीवान के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा था कि वज़ीर जिसे दीवान भी कहा जाता था, वित्तीय मामलों में सम्राट का प्रतिनिधि होता था। वह शाही खजानों का प्रबन्धक था और सभी खातों की जाँच करता था। इब्न हसन ने दीवान-ए-वजीर के कार्यों का स्वरूप इस प्रकार लिखा है कि दीवान राजस्व विभाग के प्रमुख की हैसियत से उस प्रत्येक अधिकारी पर नज़र रखता था जो जागीर से वेतन पाते थे। राजस्व विभाग के साथ उस पर राज्य के मुख्य कार्यकारी अधिकारी का भी दायित्व था। वह प्रान्तों के सूबेदारों से लेकर अमीर और पटवारी तक सब पर नियन्त्रण रखता था। वित्त मन्त्री की हैसियत से आय और व्यय की पाई-पाई पर उसकी निगरानी रहती थी। वह सरकार के तीनों विभाग जैसे बख़्शी, ख़ाने सामन तथा सद्र और प्रान्तीय प्रशासन को केन्द्र से जोड़े रखता था। नये क्षेत्रों की विजय के बाद उन भूभागों पर लगान तय करने का कार्य भी दीवान का था। सूबेदार, फौजदार तथा सेनापति सैनिक अभियान पर जाने से पहले उसकी सहमति प्राप्त करते थे। किसानों तथा प्रजा की खुशहाली का ध्यान दीवान रखता था। बुरे समय या प्राकृतिक आपदा के समय राहत देने, लगान में छूट, अग्रिम राशि देने का कार्य भी दीवान का था। अमीरों को जागीर, सरकारी कर्मचारियों को वेतन, सैनिक अभियानों के लिये खर्च व रसद, इनाम, अग्रिम धन आदि देने का कार्य दीवान का दायित्व था।[1] सभी सुझाव, प्रार्थना-पत्र, संस्तुतियाँ आदि दीवान के द्वारा ही बादशाह तक पहुँचाई जाती थीं। वह बादशाह के निर्देश पर हसब-उल-हुक्म जारी करता था। विभिन्न उत्सवों में बादशाह का प्रतिनिधित्व करता था। कुछ दीवान-वजीर फारसी गद्य के ज्ञाता थे। उन्होंने अपने बादशाहों की ओर से विदेशी शासकों को शाही ख़त लिखे, "Some of the famous wazirs of

---

minister was called wazir; there was also a diwan-i-kul and diwans of jagir, of buyutat, and of charitable grants (sadat) (Ain. 1.260-268), *एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल्स*, पृ० 20

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 20-21

the Mughal period were also masters of Persian prose and they acted as secretaries in drafting royal letters to foreign rulers on behalf of their masters."[1]

दीवान वजीर बादशाह से कहीं भी कभी मिल सकता था जैसे दरबार, गुसलखाना और ख़िलवत। प्रशासनिक मामलों पर निर्णय बादशाह उसकी परामर्श के बाद ही लेता था। उसकी परामर्श मानी जाती थी। उसकी उपस्थिति बादशाह के सामने आवश्यक थी। प्रत्येक सुबह वह कमाण्डर तथा सुरक्षा सैनिकों को बादशाह की ख़िदमत में पेश करता था। क़र्मचारियों, सैनिकों का निलम्बन और निष्कासन उसके द्वारा ही होता था। बादशाह का व्यक्तिगत ख़जाना भी उसी की देखरेख में था जो शाही परिवार की फिजूलखर्ची पर नियन्त्रण रखता था। अग्रिम धन, उधार देना और उसे वसूल कराना अथवा जाँच पड़ताल कराने का कार्य दीवान का था। नीति निर्धारण को छोड़कर अन्य फैसले वह समयानुसार स्वयं कर सकता था। वह राजकीय, शासकीय आदेशों का पालन कराने में व्यस्त रहता था। वह खान-ए-सामन को सड़क, इमारत, बाग-बगीचे, कलात्मक कार्य, कारखानों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने के लिए धन मंजूर करता था। दीवान अपनी परामर्श को कभी उजागर नहीं करता था। दीवान की अपनी मोहर होती थी जिसे वह बादशाह के आदेशों तथा पत्रों पर लगाता था। यह दीवान का शाही विशेषाधिकार था। 'That was a royal privilege.'[2] खालसा भूमि का प्रबन्ध भी दीवान के अधिकार क्षेत्र में था।

शाही दीवान का वेतन बहुत ज्यादा होता था। जो करीब 30 लाख रुपये सालाना और उससे भी ज्यादा था, अन्य सुविधाएँ अलग। दीवान यूँ तो राजस्व विभाग तथा वित्त देखता था लेकिन दीवान अच्छे सेनानायक भी थे। राजा टोडरमल और मुजफ्फर खाँ ने सैनिक अभियानों का नेतृत्व किया। शायद उस समय सैनिक असैनिक मामलों में स्पष्ट विभाजन नहीं था तथा इस तरह दीवान-वजीर के कार्य शासन के प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित थे। बादशाह के बाद वह साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति था।

दीवान के विभाग का विकास बैरम खाँ के पतन के बाद, अकबर के शासन के नवें वर्ष (1565) से हुआ। अकबर ने 1565 ई० में मुजफ्फर खाँ तुरबती को दीवान नियुक्त किया। मुजफ्फर खाँ बैरम खाँ का वकील था जिसे बैरम खाँ के पतन के बाद जेल में डाल दिया था। उसकी योग्यता को देखते हुए बादशाह अकबर ने उसे परगना पसरूर का आमिल और बाद में बयुतात या शाही कारखानों का दीवान

---

1. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 21
2. शर्मा, एस०आर०, *पू० उद्०,* पृ० 44

नियुक्त कर दिया। उसका प्रभाव इतना बढ़ गया कि बादशाह नियुक्तियों में इससे सलाह लेने लगा था। 1565–1572 तक उसने महत्त्वपूर्ण वित्तीय सुधार किए। लेकिन मुजफ्फर खाँ को अपनी शक्ति का अभिमान हो गया। उसने चौपड़ खेलते समय अपशब्द कह कर बादशाह का अपमान किया। बादशाह ने उसे दीवान के पद से हटा दिया।

सम्राट अकबर ने दीवान-वजीर पर अंकुश रखने के लिए कई प्रयोग किये। उसने दो दीवान रखना शुरू किया। उसने दीवान के कार्यों का विभाजन कर दिया। उसने दीवान के सहायक दीवान नियुक्त किए। जिससे दीवानी विभाग में योग्य दीवानों की एक टोली तैयार हुई जिसने राज्य की महत्त्वपूर्ण सेवाएँ कीं। 1573 ई० में राजा टोडरमल को गुजरात का दीवान नियुक्त किया और धनाढ्य प्रान्त की वित्तीय व्यवस्था को व्यवस्थित करने का दायित्व सौंपा। उसने यह काम बड़ी कुशलता तथा वफ़ादारी से किया। ख्वाजा शाह मंसूर अत्यन्त सक्षम व्यक्ति था। अकबर ने उसे भी दीवानी विभाग में नियुक्त किया। 1575 ई० में अकबर ने राजा टोडरमल को वित्त विभाग में बुलाकर मुशरिफ-ए-दीवान बना दिया। अबुल फज़ल के अनुसार मुशरिफ-ए-दीवान का पद दीवान के ऊपर लेकिन वकील के नीचे था।

टोडरमल और शाह मंसूर की जोड़ी ने साम्राज्य को 12 सूबों में विभाजित किया। प्रत्येक सूबे में उन्होंने एक-एक सूबेदार और एक-एक दीवान का पद सृजित किया। दहसाला प्रणाली जिसे टोडरमल से लागू करने को कहा गया था शाह मंसूर ने लागू करवाया क्योंकि टोडरमल को बंगाल का सूबेदार बना दिया गया था। बिहार और बंगाल के नवविजित प्रदेशों में दाग प्रणाली को कठोरता से लागू करने के कारण शाह मंसूर की साख गिर गई। शाह मंसूर ने अपनी खोइ प्रतिष्ठा शीघ्र ही प्राप्त कर ली थी। लेकिन 1581 ई० में वह पुनः संकट में पड़ गया। अकबर के सौतेले भाई मिर्जा हकीम से मिली भगत होने का झूठा आरोप लगाकर उसे मृत्युदण्ड दे दिया गया। इस घटना के कुछ समय बाद ही टोडरमल को दीवान-ए-आला नियुक्त किया गया। अकबर ने कई और लोगों को दीवान विभाग से जोड़ा जिनमें मीर फतहुल्ला शीरोज़ अकबर का प्रिय पात्र बन गया था। टोडरमल को भी उसके अधीन काम करने के लिए कहा गया था। इसके बाद के शाही दीवान कुली खाँ, ख्वाजा, शम्शुद्दीन, राय पत्रादास, असफ खाँ और मुहम्मद मुकीम थे। अकबर ने दीवान को वित्त विभाग तथा दीवानी विभाग में समान अधिकार तथा अपने विवेक से कार्य करने की छूट दी थी। अकबर विजारत के पद पर दीवान-वज़ीर की नियुक्ति थोड़े समय के लिये करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि सल्तनत काल में वज़ीर और विज़ारत में जो दोष आ गये थे वह इस समय दूर हो गये। डॉ० आर०पी० त्रिपाठी ने लिखा है कि अकबर के शासन काल में विज़ारत किसी एक

व्यक्ति का एकाधिकार नहीं रह गयी थी और न ही वज़ीर राज्य का स्थायी अंग था। अकबर ने कार्यकुशल निष्ठावान, परिश्रमी तथा कुशल वित्त विशेषज्ञों की एक टोली बना दी और उसे पूरा सहयोग और समर्थन दिया। उसने किसी को यह अहसास नहीं होने दिया कि वह अनिवार्य है और उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। विभिन्न दीवान आपस में प्रतिस्पर्धा एवं व्यक्तिगत ईर्ष्या भी रखते थे परन्तु अकबर के कड़े अनुशासन और कड़ी नज़र रखने से प्रशासन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

दीवान-वज़ीर का कार्य और विभाग इतना वृहद था कि उसकी सहायता के लिये सह दीवान रखे गये। दीवानी विभाग को कार्यों के आधार पर कई खण्डों में बाँटा गया और प्रत्येक खण्ड का एक प्रभारी दीवान था तथा उसकी सहायता के लिए सचिव और लिपिक होते थे। अकबर के समय दीवानी विभाग के प्रमुख प्रखण्ड निम्न थे—1. दीवान-ए-खालसा, आईन-ए-अकबरी में इसे आमिल-ए-खालसा लिखा है जो एक असाधारण सम्बोधन है। डॉ० त्रिपाठी के अनुसार यह सम्बोधन दीवान विभाग के अनुसार न होकर उसके कार्यों का सूचक है। दीवान-ए-खालसा का काम खालसा भूमि का प्रशासन देखना था। अकबरनामा में एक बार खालसा भूमि के प्रबन्धक के लिये दीवान-ए-खालसा शब्द का प्रयोग हुआ है। 2. दीवान-ए-तन या दीवान-ए-तनखा का कार्य बख़्शी से प्राप्त सभी मनसबदारों की सूची उनका वेतन और जागीर की सूची तैयार करना था। 3. दीवान-ए-जागीर का कार्य जागीरों की भूमि का हिसाब रखना था। डॉ० त्रिपाठी ने लिखा है कि अकबर के समय दीवान-ए-तन का प्रयोग यदा-कदा ही मिलता है। 4. दीवान-ए-जागीर को बाद में दीवान-ए-तन कहा जाने लगा होगा। लेकिन दीवान-ए-तन खालसा भूमि तथा दीवान-ए-मुस्तौफी मुगल साम्राज्य का आडिटर जनरल था। वह बकाया रकम की सूची आवश्यक कार्यवाही के लिए दीवान-वजीर के सामने रखता था। 5. दीवान-ए-वयूतात दीवान वज़ीर के अन्तर्गत कार्य करता था। वह फैक्टरी तथा कारखानों का प्रभारी था। उसका विभाग मीर सामन के अन्तर्गत आता था। डॉ० सरकार ने लिखा है कि वयूतात मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति का ब्यौरा रखता था तथा सरकार का बकाया वसूल करने तथा वंशज के हक को सुनिश्चित करता था। उसके कार्य विस्तृत थे। डॉ० सरकार ने उसकी सूची दी है जिनमें कारखानों में माल की आपूर्ति, पुराने माल की बिक्री, माल का मूल्य निर्धारण, दाग का हिसाब, तथा चिट और सामान का हिसाब-किताब आदि रखना था। दीवान-ए-जागीर राजस्व के कार्य के लिए दिए जाने वाले वेतन का हिसाब रखता था। दीवान-ए-तबजिह सैन्य विभाग का तथा दीवान-ए-सादात धार्मिक मामलों का लेखा-जोखा रखता था तथा खजाना-ए-मुस्तौफी लेखा परीक्षक का कार्य और मुशरिफ मुख्य लेखपाल का कार्य देखता था। उपरोक्त विभाग उनके कार्य के अनुसार अनेक अनुभागों में विभक्त थे।

इब्न हसन ने अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासन काल के दीवान वजीर की सूची दी है। अकबर के समय मुजफ्फर खान 11 वर्ष, शिहाबुद्दीन 8 वर्ष, ख्वाज़ा शाह मंसूर 3 वर्ष, टोडरमल 10 वर्ष, वजीर खान 1 वर्ष, कुलिज ख़ान 14 वर्ष, ख्वाजा शम्शुद्दीन ख़वाफी 9 वर्ष, असफ खाँ काज़बनी 5 वर्ष और मुकीम 1 वर्ष दीवान वजीर के पद पर रहे। अकबर के शासन के 42 वर्षों में कुल 10 दीवान वजीर हुए। बादशाह अकबर अपने दीवान की योग्यता और कार्य कुशलता का सम्मान करता था। दीवान ने वित्त तथा राजस्व विभाग की महत्त्वपूर्ण सेवाएँ कीं। इब्न हसन ने लिखा कि बादशाह ने सही व्यक्ति को उसकी योग्यता के पद पर नियुक्त करके तथा कार्यकुशलता और निष्ठा को विशेष सम्मान तथा प्रोन्नति का आधार बनाकर एक स्वस्थ परम्परा बनाई।[1]

अकबर बादशाह के बाद जब जहाँगीर शासक बना तो उसने अकबर की दीवान बदलते रहने की नीति को अपने शासन के प्रथम छह वर्षों तक जारी रखा। इसके बाद दीवान लम्बे समय तक पद पर बने रहे दीवान की कार्य कुशलता तथा योग्यता को देखते हुए जहाँगीर ने उसे नहीं बदला। ग़ियासबेग एतमाउद्दौला (नूरजहाँ का पिता) बहुत ही योग्य राजस्व अधिकारी और वित्त विशेषज्ञ था। कुछ अवधि को छोड़ कर वह जहाँगीर के काल में अपनी मृत्यु तक दीवान पद पर बना रहा। डॉ० बेनीप्रसाद के अनुसार एतमाउद्दौला नूरजहाँ के प्रभाव के कारण दीवान पद पर बना रहा। लेकिन डॉ० एस० नूरुल हसन और डॉ० इरफान हबीब के अनुसार एतमाउद्दौला अपनी योग्यता के कारण दीवान के पद पर नियुक्त रहा। इस समय तक दीवान का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया था। दीवानी के विभाग का इतना विकास हो गया था कि दीवान बनने के लिये व्यावहारिक अनुभव तथा विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता थी जो सेनापतियों के अधिकार क्षेत्र से बाहर थी। जहाँगीर ने इसी विकास के कारण अकबर के द्वारा प्रारम्भ की गई संयुक्त दायित्व की प्रथा में परिवर्तन किया। उसने साम्राज्य के राजनैतिक विभाजनों के अनुसार दायित्वों में परिवर्तन किया।

बादशाह शाहजहाँ ने 31 वर्ष शासन किया। उसके शासन में 6 स्थायी दीवान का उल्लेख मिलता है। दीवान अफजल खाँ, दीवान इस्लाम खाँ तथा दीवान सादुल्ला खाँ ने 27 वर्ष दीवान के पद का दायित्व निभाया। सादुल्ला खाँ, बादशाह शाहजहाँ का सबसे योग्य, सर्वाधिक विद्वान और सर्वोत्तम दीवान था। उसने कठिन परिश्रम, चारित्रिक निष्ठा और दीवान के विभाग पर नियन्त्रण के द्वारा सम्राट का विश्वास प्राप्त कर लिया था। शाहजहाँ उससे महत्त्वपूर्ण विषयों पर मन्त्रणा करता था और नियुक्ति आदि में उसकी राय लेता था। शाहजहाँ ने दीवान की नियुक्ति

---

1. हसन, इब्न, पृ० उद्०, पृ० 170

अकबर की तरह दीवान की कार्यकुशलता, योग्यता तथा बादशाह प्रति निष्ठा के आधार पर की। उसने दीवान विभाग में दोहरे नियन्त्रण (2 दीवान नियुक्त करने की) की प्रथा को चालू रखा। दीवान विभाग के अन्तर्गत सह-दीवान विभाग का विकास शाहजहाँ के समय हुआ। अकबरनामा तथा आईन में इनका उल्लेख यदाकदा ही हुआ है। यह विभाग थे दीवान-ए-खालसा जिसके प्रभारी क्रम से दियानत राय, भारमल, जसवंत राय, रघुनाथ राय थे। दीवान-ए-तन विभाग के अधिकारी रायमानदास, मीर अब्दुल लतीफ, दियानत राय थे। दीवान-ए-वयूतात का कार्य जसवंत राय तथा मुकुंद दास के नियन्त्रण में था।

बादशाह औरंगजेब सब काम खुद करना चाहता था। अत: वह खुद ही मन्त्री था। स्वयं दीवान-वजीर एवं प्रशासन का उत्तरदायित्व अकेले निभाना असम्भव था। अत: 1676 ई० में उसने असद खान को अपना मुख्य दीवान बनाया। असद खान बड़ा ही योग्य प्रशासक था। उसने 31 वर्ष तक दीवान केरूप में साम्राज्य की महती सेवायें कीं। इतने लम्बे समय तक दीवान के पद को सुशोभित करने वाला वह अकेला दीवान था।

बादशाह औरंगजेब के अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय दीवान-वजीर इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि राज्य की वास्तविक शक्तियाँ उसके हाथ में केन्द्रित हो गयीं। डॉ० सरकार ने लिखा है कि "It was only under the degenerate descendents of Aurangzeb that the wazirs became virtual rulers of the state, like the Mayors of the Palaces in medieval France."[1]

मीर बख्शी

मीर बख्शी का पद सल्तनत काल में भी था। सल्तनत में उसे मीर बख्शी के स्थान पर दीवान-ए-अर्ज़ कहते थे। वजीर या दीवान के अधिकारों को सीमित करने के लिए दीवान-ए-अर्ज़ नाम का अलग सैनिक विभाग था। जिसका कार्य सैनिकों की भर्ती करना, घोड़ों की जाँच करना, सैनिकों की उपस्थिति का निरीक्षण करना आदि था। मुगल काल में मीर बख्शी वकील, दीवान तथा वज़ीर के बाद सबसे शक्तिशाली था। मुगलों के मीर बख्शी के पास सल्तनत काल के दीवान-ए-अर्ज़ से कहीं ज्यादा अधिकार थे तथा उसका प्रभाव भी ज्यादा था। इब्न हसन के अनुसार मुगल साम्राज्य में मीर बख्शी के पास दीवान-ए-अर्ज़ की हैसियत के सभी अधिकार थे लेकिन उसका प्रभाव क्षेत्र सैन्य विभाग के बाहर तक फैला था। मुगलों की मनसबदारी व्यवस्था के अखण्ड संगठन के कारण मीर बख्शी की भूमिका अधिक प्रभावशाली और प्रमुख हो गई थी। मीर बख्शी का पद ऊँची श्रेणी

1. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 21

के मनसबदार का होता था। मनसबदारों की नियुक्ति बादशाह करते थे। मनसबदारी के इच्छुक उम्मीदवारों को मीर बख्शी ही बादशाह के समक्ष उपस्थित करता था। मीर बख्शी का यह उत्तरदायित्व था कि वह योग्य व्यक्तियों को ही मनसबदार बनवाये। बादशाह तथा मनसबदारों के बीच सम्पर्क स्थापित करने की कड़ी मीर बख्शी था। मीर बख्शी पर बादशाह तथा राजमहल की सुरक्षा का उत्तरदायित्व था। शहज़ादा सलीम के विद्रोह करने पर जब उसे गद्दी से वंचित कराने का प्रयास किया गया तो मीर बख्शी शेख फरीद ने अकबर और युवराज सलीम को मिलाने का कार्य किया।

मीर बख्शी के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, पहला कार्यालय सम्बन्धी, दूसरा दरबार में। मीर बख्शी का कार्यालय केन्द्रीय सरकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण विभाग था। इसमें कई सहायक बख्शी तथा अधिकारी कार्य करते थे। उसके अन्तर्गत कई विभाग थे जिनका कार्य क्षेत्र निश्चित था।

मीर बख्शी का कार्य मनसबदारों की नियुक्ति तथा प्रोन्नति के लिये उन्हें बादशाह के समक्ष उपस्थित करना था। मनसबदारों की वह एक पंजिका रखता था। मनसबदारों को उनके मनसब के अनुसार कितने सैनिक, घोड़े, वेतन, जागीर दी जायेगी इसे मीर बख्शी निश्चित करता था। वकील, वजीर और सद्र जैसे उच्च पदों पर नियुक्तियों के साथ प्रोन्नति का प्रस्ताव भी मीर बख्शी रखता था। डॉ० सरकार ने लिखा है कि वह भुगतान करने वाला महाधिकारी था। "Every officer of the Mughal Government was enrolled as a commander of so many horsemen. This title was only a convenient means of calculating his salary and status. It did not mean that he had to maintain so many horsemen in his service. Thus, theoretically even the civil officers belonged the military department, and therefore, the salary bills of all officers had to be calculated and passed by the paymasters of the army."[1] यहाँ तक राजकुमारों, राजपरिवार के सदस्यों, उच्च श्रेणी के उमराओं के वेतन, वेतन वृद्धि, नियुक्ति, गारद के कार्य, सैनिकों की हाजिरी, अवकाश की अनुमति, बादशाह के फरमानों तथा परवानों पर मीर बख्शी के हस्ताक्षर होते थे। याददाश्त ठीक करके उस पर मीर बख्शी मोहर लगाता था। मीर बख्शी के कार्यालय में शासन से सम्बन्धित प्रपत्र एवं अभिलेख भी रहते थे जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं, राजधानी एवं प्रान्तों में तैनात मनसबदारों की सूची; मनसबदारों द्वारा देय माँग; कितने नकद वेतन पर कितनी जागीर दी जायेगी इससे सम्बन्धित विनिमय; वेतन पत्रों के सारांश; मनसबदारों एवं सवारों के चेहरे की पहचान की विवरणिका; घोड़ों को दागने,

---

1. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 21

उनकी जाँच और सत्यापन से सम्बन्धित प्रपत्रों की सूची, राजमहल में उपस्थित गारद की सूची तथा प्रान्तों में उपस्थित मनसबदारों एवं सेना की सूची।[1]

मीर बख्शी का दरबार विषयक कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। वह बादशाह के निकट दाहिनी ओर उपस्थित रहता था। अबुल फज़ल ने लिखा था कि ईरानी, तुरानी, रूमी, फिरंगी, हिन्दी तथा कश्मीरी नौकरी के लिए आते थे। सम्बन्धित अधिकारी नियमानुसार उनकी योग्यता की परीक्षा कर वेतन निश्चित करते थे और मीर बख्शी उन्हें बादशाह के सामने उपस्थित करता था क्योंकि सभी नियुक्तियाँ बादशाह ही करते थे। स्थायी कर्मचारियों को भी निश्चित अन्तराल के बाद वह सम्राट के सम्मुख पेश करता था।

मीर बख्शी केन्द्र से प्रान्तों को जाने वाले, प्रान्तों से आने वाले अधिकारी, दर्शनार्थी तथा दूत मण्डल तथा दूतों को बादशाह के सामने प्रस्तुत करता था। दरबार-ए-आम तथा ख़ास में मीर बख्शी या उसका कोई प्रतिनिधि उपस्थित रहता था।

राजमहल की सुरक्षा तथा सुरक्षा सैनिकों की जिम्मेदारी मीर बख्शी की थी। वह सैनिकों को इनाम, अनुदान तथा पुरस्कार दिलाने के लिए बादशाह के समक्ष प्रस्तुत करता था। गुसलखाना में सम्राट के निकट रहता था। प्रान्तों से आने वाले समाचार मीर बख्शी देखता था। जो सूचनाएँ बादशाह के लिए आवश्यक होती थीं उन्हें सम्राट के समक्ष रखता था। शिविर के प्रबन्ध का दायित्व भी मीर बख्शी का था। मीर बख्शी सैनिक विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था। सैनिक अभियान में जब बादशाह युद्ध में भाग लेता तो वह सेनानायक होता था और सैनिक अभियान का प्रबन्ध मीर बख्शी करता था। जब किसी सैनिक अभियान का उत्तरदायित्व मीर बख्शी को दिया जाता था तो वह सेनापति का कार्य सँभालता था। कभी-कभी जब युवराज अथवा उच्च अधिकारी या उमरा सैनिक अभियान के लिए जाते थे तो सैनिक अभियान का प्रबन्ध कुशलता से करने के लिए मीर बख्शी भी अभियान पर जाता था। अकबर के शासन काल में टोडरमल तथा मिर्जा अजीज कोका जब बिहार पर आक्रमण करने गये थे तो मीर बख्शी शाहवाज खाँ को साथ भेजा गया था। शाहजहाँ ने बल्ख के अभियान पर जब शहजादे मुराद को भेजा तब मीर बख्शी सलावत खाँ को उसके साथ भेजा था।

डॉ० जदुनाथ सरकार ने मीर बख्शी को मुख्यत: वेतन अधिकारी (pay-master general) लिखा है। इब्न हसन तथा डॉ० कुरैशी के अनुसार मीर बख्शी केवल सैनिक अभियान में वेतनाधिकारी का कार्य करता था और उसे इसका पूरा हिसाब अभियान के बाद दीवान को सौंपना पड़ता था। मीर बख्शी दीवान की सहमति के बगैर न धन वितरित कर सकता था न जागीर दे सकता

---

1. इब्न हसन, *द सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ मुगल एम्पायर*, पृ० 226-27

था।[1] वह नियुक्ति, प्रोन्नति, वेतन आदि की संस्तुति कर सकता था तथा उन्हें सम्राट के शासकीय आदेश के लिए उसके सम्मुख प्रस्तुत करता था।

मीर बख्शी की सहायता के लिए दो अन्य बख्शी भी होते थे जो दूसरा और तीसरा बख्शी कहलाते थे। कार्यों का विभाजन उनके बीच उनके मनसब के अनुरूप होता था। प्रशासन का ढर्रा ऐसा बनाया गया था कि वे एक दूसरे पर निगरानी रखते थे और इस तरह शक्ति का सन्तुलन बना रहता था। अकबर के समय एक मीर बख्शी, दो बख्शी तथा एक बख्शी हुजूर था। जहाँगीर ने इस व्यवस्था में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया। उसके राजत्व काल में मीर बख्शी तथा सात सात बख्शियों का उल्लेख मिलता है; एक मीर बख्शी, दो बख्शी, एक बख्शी-ए-हुजूर (बादशाह की सेवा में उपस्थित रहने वाला) एक बख्शी-ए-अहदी (अहदी पैदल) का (बख्शी) एक बख्शी गरी-ए-दर-ए-खाना, एक बख्शी-ए-शागिर्द पेशा (घरेलू नौकर का बख्शी)।

शाहजहाँ के समय तीन बख्शी थे; पहला, दूसरा और तीसरा बख्शी। बख्शी-ए-हुजूर का पद समाप्त कर दिया गया था। बख्शी-ए-अहदी तथा बख्शी-ए-शागिर्द विशेष राजकर्मचारियों से सम्बन्धित थे। औरंगजेब के शासन काल में एक मीर बख्शी तथा तीन अन्य बख्शी थे। इब्न हसन ने मुगल काल के प्रमुख बख्शियों के नामों का उल्लेख किया है। अकबर के समय लश्कर खान, शहबाज खान कम्बोह, शेख फरीद तथा जहाँगीर के समय शेख फरीद, वज़ीर उलमुल्क, ख्वाजा अबुल हसन, सादिक खान, इरादत खान तथा शाहजहाँ के समय इरादत खान, सादित खान, इस्लाम खान, मीर जुमला, मुतमद खान, सलावत खान, जफर खान तथा खलीलउला खान प्रमुख थे।[2]

संक्षेप में, मीर बख्शी का महत्त्व सरकार में दीवान वजीर के समकक्ष था। वह सेना का अध्यक्ष था। मीर बख्शी के युद्ध के मैदान में सेना का संचालन करने के कारण उसका प्रभाव बादशाह पर तथा अमीरों से अधिक था। सारी सैनिक गतिविधि उसकी निगरानी में होती थी। मीर बख्शी सेना का वेतन अधिकारी भी था। इब्न हसन ने लिखा है कि मीर बख्शी अन्य अधिकारियों से अति विशिष्ट स्थान इसलिए भी रखता था कि इस पद पर मुख्यतः अच्छे सैनिकों को ही नियुक्त किया जाता था। जबकि मनसबदारों में सैनिक और दीवानी पदों में कोई भेद नहीं किया जाता था। यह तथ्य बहुत रोचक है कि अकबर ने लश्कर खाँ तथा शहबाज खान जो मुख्यतः सैनिक थे मीर बख्शी बनाया। वह योग्य तथा बादशाह के प्रति निष्ठावान भी थे

1. कुरैशी, *दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर*, पृ० 79 तथा इब्न हसन, *पूर्व उद्०*, पृ० 255
2. इब्न हसन, *पू० उद्०*, पृ० 230-31

लेकिन अकबर को उन्हें उनके अभद्र आपत्तिजनक व्यवहार के कारण दण्ड देना पड़ा। जहाँगीर ने सादिक खान की निष्ठा पर सन्देह होने के कारण पद से हटा दिया। बाकी मीर बख्शी मृत्यु तक अपने पद पर बने रहे अथवा कुछ को सूबेदार या दीवान भी बनाया गया।[1]

मीर सामान

पश्चिम एशिया के इस्लामिक देशों में हरम (राज परिवार) की देख-रेख के लिए ऐसा कोई अलग विभाग नहीं था जैसा कि मुगलों के काल में था। मुगल काल में शाही परिवार का प्रबन्ध देखने के लिए अलग विभाग जिसका स्वतन्त्र प्रभारी मीर सामान होता था। अकबर के शासन तन्त्र में मीर सामान का कोई उल्लेख नहीं मिलता। धीरे-धीरे उसका महत्त्व तथा प्रभाव क्षेत्र बढ़ गया।[2] मीर सामान तथा शाही परिवार के अन्य सभी अधिकारी दीवान वजीर के अन्तर्गत थे। व्यवहार में वह बादशाह से सीधे मिल सकता था। उसे उसके विभाग के खर्च के लिए एकमुश्त रकम भी दी जाती थी। इस प्रभाव के कारण डॉ० सरकार ने उसे केन्द्रीय सरकार में दीवान के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग लिखा है। लेकिन डॉ० श्रीराम शर्मा, डॉ० पी० सरन, डॉ० इब्न हसन, डॉ० सतीशचन्द्रा ने उसे दीवान वजीर तथा मीर सामान बख्शी के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग बताया है। डॉ० राकेशकुमार तथा डॉ० हरीशचन्द्र वर्मा ने उसे केन्द्रीय शासन का चौथा विभाग बताया है। मुगलशाही महलों की देखभाल की जिम्मेदारी निभाने के कारण उसका स्थान दीवान के अन्तर्गत मीर बख्शी के बाद आता था। अकबर के समय मीर सामान नाम के किसी विभाग का उल्लेख आईन में नहीं मिलता। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय इसका विकास हुआ होगा। अकबर के समय दीवान-ए-वयूतात का उल्लेख है जो कारखानों का प्रभारी था। बाद में वह मीर सामान कहलाने लगा। जहाँगीर के समय उसे ख़ान-ए-सामान अथवा मीर सामान कह कर सम्बोधित किया गया है। औरंगजेब के काल में उसे ख़ान-ए-सामान कहा गया। तत्कालीन लेखकों ने इस विभाग का वर्णन मीर सामान सम्बोधन से किया है अतः यही सम्बोधन इस विभाग के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

मीर सामान विभाग का अध्यक्ष था। इस विभाग के अन्य अधिकारी दीवान-ए-वयूतात, मुशरिफ-ए-कुल-ओजुज़, दरोगा, ताहविलदार, मुस्तौफी, दरोगा-ए-कचहरी और नाजिर थे। मीर सामान का कार्य मुख्यतः राजसी परिवार, शाही कारखानों तथा शासकीय कार्यों से सम्बन्धित था। राजसी परिवार की सुख-सुविधा

1. इब्न हसन, पू० उद्०
2. *वही*, पृ० 238

का ख्याल रखना तथा आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करना मीर सामान का दायित्व था। शाही इमारतें, सड़कें, शाही बाग-बगीचे, भण्डार गृह के लिये सामान की खरीद फरोख्त, वर्कशाप के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराना मीर सामान का दायित्व था। बादशाह के निजी सेवक उसके आधीन रहते थे। वह सम्राट के दैनिक व्यय, भोजन, वस्त्र, पोशाक-ख़ाना, फर्राशख़ाना अब्दारखाना आदि का प्रबन्धक था। शाही भोज, विवाह का प्रबन्ध भी वही देखता था। शाही परिवार का प्रबन्धक होने के नाते उसे बादशाह के राजधानी में रहते हुए अथवा शिकार या अभियान के समय आवश्यकता पड़ने वाली वस्तुओं का प्रबन्ध करना पड़ता था। उसे युवराजों, मनसबदारों, दूतों, राजकुमारियों, विद्वानों, राजाओं, अमीरों आदि को दिए जाने वाले उपहार, पुरस्कार, सम्मान आदि की व्यवस्था करनी होती थी। मीर सामान के पास माँगे जाने पर सब सामान सदैव उपलब्ध होना आवश्यक था।

मुगल बादशाहों की सभी वस्तुएँ साधारणतया शाही कारखानों में ही निर्मित होती थीं। व्यापार तथा कारखाने का मन्त्री (As the minister for trade and industry)[1] होने के कारण कारखानों का प्रबन्ध, कर्मचारियों की नियुक्ति, बर्खास्तगी, कारीगरों का वेतन, दैनिक कारीगरों को काम व वेतन उसका कार्य था। कारखाने में क्या बनना है, क्या पुराना हो गया, क्या बेचना है, वस्तुओं का मूल्य निर्धारण, जवाहरात को क्रय करना उसका काम था। इस कार्य में बहुत सतर्कता बरतनी पड़ती थी, अन्यथा बदनामी का भय था।

शाही बाग-बगीचों का प्रबन्धक होने के कारण वह बागों में विभिन्न प्रकार के फल-फूल, तरकारी तथा बगीचों के लगवाने का कार्य करता था। इनमें सिंचाई की व्यवस्था करना तथा बादशाह की मन पसन्द किस्मों के पेड़-पौधों उगवाना, नई किस्म तैयार कराना उसी का काम था। शाही जानवरों की देखभाल तथा चारे आदि का प्रबन्ध भी उसी के हाथ में था। डॉ० सरकार ने दस्तूर के आधार पर मीर सामान के दायित्वों का वर्णन किया है जैसे; वेतन बिल को सत्यापित करना; कारीगर तथा कर्मचारियों की उपस्थिति पंजिका रखना और सत्यापित करना; अपने ही विभाग के अधिकारियों (दरोगा, आमीन, नाजिर आदि) की नियुक्ति तथा हटाना; कारखानों तथा खजानों के लिये नियम बनाना; कारीगर रखना और उनका वेतन नियत करना; कारखाने की माँगों की आपूर्ति करना; शाही महल स्थाई और अस्थाई तौर पर देना; नीम-गोश्त तथा पाव गोश्त का निरीक्षण करना; छोटे कारखानों के प्रबन्धकों से बाण्ड भरवाना तथा अग्रिम सुरक्षा राशि लेना; नज़र का हिसाब रखना; कारखाने के लिए ऋण उपलब्ध कराना, बादशाह की फरमाइश पूरी करना; सूबों से आने वाले सामान को डायरी करना और बन्द लिफाफों (आवारिज़ा) को बिना मुहर तोड़े

1. शर्मा, आर०एस०, पू० उद्०, पृ० 47

बादशाह तक पहुँचवाना; तुमार (रजिस्टर) वसूली गई रकम को मुहसिबत (Muhasibat) को भेजना आदि-आदि कार्य थे।

खान-ए-सामान का विभाग दीवान के विभाग से मिलता-जुलता था। कभी-कभी खान-ए-सामान घर से अपना काम करता था लेकिन औरंगजेब ने आदेश दिया कि खान-ए-सामान अपने विभाग में जाकर काम करे।[1] बादशाह और शाही फरमाईश तथा खर्च से सम्बद्ध होने के कारण वह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति था जो बादशाह के अत्यन्त नजदीक था। लेकिन उसका काम उतना ही चुनौतीपूर्ण और जोखिम वाला था। उस पर बादशाह का सदैव नियन्त्रण बना रहता था।

सद्र

इस्लाम में सुल्तान प्रजा तथा शरीयत का रक्षक माना गया। इस्लाम के प्रसार के प्रारम्भिक वर्षों में सुल्तान मुख्यतः सैनिक थे इसलिए इस्लाम और इस्लामिक नियम के ज्ञाता आलिम होते थे जिन्हें उलेमा कहा जाता था। साम्राज्य में इस्लाम के प्रचार-प्रसार, रक्षा तथा शरा की व्याख्या करने के लिए शासक शेख-उल-इस्लाम की नियुक्ति करता था। शेख-उल-इस्लाम का कार्य शासक को इस्लामिक नियम कानून के विषय में परामर्श देना था। न्याय शरीयत के आधार पर होता था। इसलिए वह मुख्य न्यायधीश अर्थात् काज़ी-उल-कुजात भी कहा जाता था। इस्लामिक क़ानून जानने के लिए शासक उलेमाओं की सभा बुलाता था जिसे 'सुदूर' कहा जाता था। जो उलेमा इसका सभापतित्व करता था तथा स्थाई तौर पर बादशाह का परामर्शदाता नियुक्त किया जाता था उसे 'सद्र-उस-सदूर' या 'सद्र-ए-कुल' कहा जाता था।

सैद्धान्तिक तौर पर सद्र और उसके उलेमा व काज़ी, मुफ्ती आदि सरकारी कर्मचारी नहीं माने जाते थे। विद्वानों की विद्वता को धन से आँकना योग्यता का अपमान करना माना जाता था अतः इनके खर्च व भरण-पोषण के लिए बादशाह अनुदान के रूप में धन तथा जागीर देते थे। दान में दी जाने वाली भूमि लगान मुक्त होती थी जिसे तुर्की भाषा में सुयूरग़ल तथा अरबी में मदद-ए-माश कहा जाता था। मुगल काल में सद्र को जरूरतमन्दों को जागीर तथा सहायता राशि देने का अधिकार था। ऐसा अधिकार सद्र को सल्तनत काल में नहीं था।[2]

सद्र-उस-सदूर का प्रमुख कार्य, न्याय, कानून, जनता को नैतिक सदआचरण करने के लिये प्रेरित करना; शिक्षा की व्यवस्था करना; उलेमाओं पर नियन्त्रण;

---

1. शर्मा, आर०एस०, पू० उद्०, पृ० 49
2. हसन, इब्न, *सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दि मुगल गवर्नमेन्ट*, पृ० 258

शिक्षण संस्थाओं का प्रबन्ध; दान में दी जाने वाली भूमि का निरीक्षण तथा हिसाब-किताब रखना था। सद्र राज्य का मुख्य मुफ्ती भी होता था। उसका कार्य विवादास्पद तथा पेचीदे मामलों में कानून तथा शरा की व्याख्या करना था। कभी-कभी मुफ्ती और सद्र दो अलग व्यक्ति होते थे जैसे अकबर और औरंगजेब के शासन काल में कुछ समय मुफ्ती और सद्र दो अलग पद थे। वह काज़ी को भी न्याय के मामलों में परामर्श दे सकता था। लेकिन ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता जब मुफ्ती से परामर्श किया गया था।[1] सद्र अनुदान दिलवाने का कार्य करता था। रमज़ान के महीने में दान का वितरण करवाता था। उलेमाओं, विद्वानों, धर्म, साहित्य तथा विद्यार्थियों, शिक्षाविदों को वजीफ़ा, अनुदान आदि जीविका चलाने के लिए देता था। विद्या और धर्मशास्त्र में प्रवीण लोगों को जागीर, इनाम, पारितोषिक, सम्मान देता था। प्रान्तों में सद्र, काज़ी तथा मदरसों में शिक्षक नियुक्त करने की बादशाह से संस्तुति करता था। अकबर ने स्वयं प्रान्तों में सद्र की नियुक्ति करके सद्र पर नियन्त्रण करने का प्रयास किया था।

सद्र-ए-सदूर राजधानी में रहता था। उसका विभाग प्रशासन के अन्य विभागों की अपेक्षा सादा था। आईन-ए-अकबरी में केवल एक बार उल्लेख मिलता है कि सद्र की सहायता के लिए एक क्लर्क और एक बितिकची (Bitikchi) होता था। एक अन्य स्थान पर अबुल फजल ने शाही फरमानों के सन्दर्भ में दफ़्तर-ए-दीवान-ए-सादत का उल्लेख किया है। लेकिन सद्र का विभाग अन्य विभागों की अपेक्षा कम महत्त्व रखता था।[2] दीवान-ए-सद्र विभाग की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में ऐसा ज्ञात होता है कि सद्र मदद-ए-माश की जो संस्तुति बादशाह के सामने रखता था उस पर बादशाह की आज्ञा होने के बाद वाकिया नवीश उसे डायरी करता था तब वह याददाश्त (memorandum) बन जाता था। फिर उस तालिका में पंजीकरण होता था। इसके बाद वह आज्ञा सरखत (Sarkhat) अर्थात् शाही फरमान का मसविदा (draft) बन कर दीवान-ए-कुल के विभाग में पहुँचती थी। जहाँ मुस्तौफी फरमान की फिर से जाँच करके हस्ताक्षर करता था और मुहर लगाकर दीवान-ए-सादत को भेजता था। इस तरह प्रत्येक मदद-ए-माश को दीवान के विभाग में दर्ज किया जाता था।[3]

सद्र दान, अनुदान, न्याय, नैतिक, आचरण, धर्म, शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य देखने के कारण साम्राज्य में उसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने अधिकारों का दुरूपयोग करने लगा। अकबर ने

---

1. शर्मा, आर०एस०, *पू० उद्०*, पृ० 50-51
2. इब्न हसन, *पू० उद्०*, पृ० 264-65
3. *वही*

सद्र-ए-सादत में सुधार करने का प्रयास किया। अकबर ने प्रारम्भ में मिल्क, मदद-ए-माश, मिल्क आदि अनुदान सद्र के हाथों में छोड़ दिए थे जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत-सी जमीनें अनुदान में सूर तथा लोदी अफगानों के समर्थक शेखों को दे दी गईं। सद्र लालची और भ्रष्ट हो गये। सद्र शेख गदाई ने बहुत-सी जमीनें बेचने की कोशिश की परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। बदायूँनी ने लिखा है कि उसने पुराने सम्मानित परिवारों की भूमि छीन कर चापलूसों और अयोग्य व्यक्तियों को दे दी। योग्य और अच्छे परिवारों को उससे बहुत अपमान सहना पड़ता था।[1] 1565 में शेख अब्दुन्नबी को सद्र बना दिया। अकबरकालीन सद्र में वह एकमात्र ऐसा सद्र था जिसे पूरा सम्मान एवं शक्तियाँ प्राप्त थीं।[2] उसकी सदारत में दो महत्त्वपूर्ण बातें हुई, पहला, जिन अनुदानों का उपभोग अफगान कर रहे थे उन्हें वापिस लेकर खलिसा जमीन में मिला दिया, दूसरा, अब्दुन्नबी द्वारा अभिप्रमाणित अनुदानों को ही रहने दिया गया। इससे ख़ालिसा की आमदनी बढ़ गई।[3] अकबर ने मदद-ए-माश जागीरों के कागज पत्रों की जाँच-पड़ताल करवाई। जिनकी जागीर साम्राज्य में कई स्थानों पर थी उसे एक स्थान पर (चकबंदी) करने का आदेश दिया। जिनके पास 500 बीघा से अधिक भूमि थी उनसे अपने अधिकार पत्र बादशाह के यहाँ जमा करने को कहा गया। प्रान्तों में सद्र की नियुक्तियाँ स्वयं की। उसके इस सुधार से बहुत मुल्लाओं की भूमि छिन गई। मुल्ला वर्ग अकबर से बहुत नाराज हो गया। जब 1579-80 में बिहार और बंगाल में विद्रोह हुए तो उलेमाओं ने घोषणा की कि अकबर के मदद-ए-माश में हस्तक्षेप करने के कारण ऐसा हुआ है। अकबर ने कहा कि सद्र को 15 बीघा से अधिक भूमि अनुदान में न दी जाये। अबुल फजल ने इस पर कुछ प्रतिक्रिया नहीं की परन्तु बदायूँनी ने इस पर लिखा कि मीर फथ-उल्लाह के काल में सद्र का पद सियाहनवीसी लिपिक का पद बन गया था। इब्न हसन ने लिखा है कि, जो गिरावट पूरे समाज में व्याप्त थी सद्र भी उसी का अंग थे। यह दुःखद है कि वह खुद को औरों से ऊँचे नहीं सिद्ध कर सके। सद्र के अधिकारों को कम करने के लिए सूबों का गठन होने के बाद हर सूबे में बादशाह ने स्वयं सद्र की नियुक्ति की और सद्र पर नियन्त्रण रखने के लिये साम्राज्य को 6 सूबों में बाँट दिया और प्रत्येक में एक पर्यवेक्षक रख दिया। 1589 ई० में एक नया नियम बनाया गया जिसके अनुसार सुयुरग़ल का आधा रकबा ऐसी जमीन का होगा जिसमें खेती की जा रही है और आधा रकबा ऐसी जमीन का जिसमें खेती की जा सकती है। यदि पूरे

1. इब्न हसन, पू० उद्०, पृ० 259
2. *वही*
3. सतीश चन्द्रा, *पार्टीज एण्ड पालिटिक्स एट दि मुगल कोर्ट*, पृ० 176-177

रकबे में खेती हो रही होगी तो 1/4 भाग अनुदान भूमि का वापस ले लिया जायेगा। इस प्रकार सरयूग़ल भूमि का प्रयोग कृषि के विस्तार के लिए किया गया।[1] इससे स्पष्ट है कि सद्र अपनी (अनुदान) शक्ति का प्रयोग रिश्वत लेने सट्टेबाजी, गबन आदि में करके भ्रष्टाचारी तथा स्वेच्छाचारी हो गये थे। अकबर ने निरीक्षण तथा जाँच-पड़ताल करके उसकी शक्तियों पर प्रशासनिक अंकुश लगाया। न्याय कार्य यूँ तो सद्र का था परन्तु मुगल बादशाहों न न्याय में गहरी रुचि लेकर सद्र के प्रभाव पर अंकुश लगा दिया। जहाँगीर तथा शाहजहाँ का अपने सद्र के प्रति व्यवहार बहुत कृपा पूर्ण और उदारता का था लेकिन उन्होंने अकबर के द्वारा प्रारम्भ की गई नीति में परिवर्तन नहीं किया। इन सुधारों, निगरानी तथा बादशाह के अंकुश के कारण सद्र के पद को वह सम्मान तथा प्रतिष्ठा और अधिकार कभी नहीं मिले जिनकी सिफारिश मुस्लिम न्यायविदों ने की थी।

मुगल काल में बादशाह अकबर के समय शेख गदाई कम्बोह, ख्वाजा मुहम्मद सालिह, शेख अब्दुलनबी, सुल्तान ख्वाजा, मीर फतहउल्ला शीराज़ी, मीरन सद्रजहाँ ने सद्र-ए-सदूर के पद को सुशोभित किया था। बादशाह जहाँगीर के समय के सद्र का नाम मीरन सद्रजहाँ तथा मूसवी खान मिलता है। शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भ में मूसवी खान (जो जहाँगीर के काल के थे) तथा सैयद सद्र जलाल बोख़ारी गुजराती और सैयद हिदायत-उल्लाह थे।[2] औरंगजेब के समय (1658-1707) आठ सद्र नियुक्त हुए जिसमें कलीच खाँ दो बार सद्र बना।

अकबर ने अपने शासन के अन्तिम वर्ष में पीठासीन सद्र मीरन सद्रजहाँ को 2 हजार का मनसब दिया था। जहाँगीर ने उसका मनसब बढ़ा कर 4 हजार कर दिया जो बाद में 5 हजार तक पहुँच गया। सद्र मीरन जहाँगीर का शिक्षक था, उसने अपने शिक्षक को उपहार देने का वायदा किया था जो उसने उसे सद्र बनाकर पूरा किया। उसे अतिरिक्त शक्तियाँ और सम्मान भी दिया।[3] मूसवी खान ने 3 हजार के मनसब से शुरू कर के बाद में 4 हजार सात सौ पचास का मनसब प्राप्त कर लिया था। शाहजहाँ के समय मूसवी खान सद्र था जिसकी संस्तुति पर जरूरतमन्दों को 1 साल में चार लाख बीघा आय की भूमि मदद-ए-माश में दी गयीं। उस पर आयोग्य लोगों को वजीफा और दान दिलवाने का आरोप पाया गया। उसे हटाकर जलाल खाँ को सद्र बना दिया गया (Ghairmustahquan)।[4] उस पर दूसरा आरोप जाली सरकारी फरमान बनाना था। सैयद जलाल खाँ 4 हजार मनसब से 6 हजार दो सौ के

1. सतीश चन्द्रा, पू० उद्०, पृ० 176-177
2. *वही*
3. हसन, इ०, पू० उद्०, पृ० 269-70
4. *वही*

मनसब पर पहुँच गया था। यह किसी भी सद्र को दिया गया उच्चतम मनसब था। सैयद जलाल अपनी विद्वता, निष्पक्षता और निस्वार्थता के लिए सम्मानित था।

डॉ० सतीशचन्द्रा ने लिखा है कि अकबर चाहता था कि सरकारी अनुदानों का लाभ हिन्दू विद्वानों तथा संत-महात्माओं को भी मिले इसलिए उसने सद्र-उस-सदूर के पद पर उदार दृष्टिकोण वाले सहिष्णु आलिमों को नियुक्त किया। इसका प्रमाण बदायूँनी का यह कटाक्ष है कि 1575 ई० में अकबर के आदेश पर नीचों, विद्रोहियों और यहाँ तक कि हिन्दुओं को भी अनुदान दिये जाने लगे। मौलवी, काज़ी तथा सद्र तथा बदायूँनी की नाराजगी का कारण हिन्दुओं को अनुदान देना नहीं था वरन् मदद-ए-माश की पुर्नव्यवस्था करना था।

मुगल कालीन प्रशासनिक संरचना का केन्द्र बिन्दु सम्राट था। सम्राट की सहायता के लिए दीवान-वजीर, मीर बख्शी, मीर सामान और सद्र नामक चार प्रभावशाली मन्त्री थे। इनके पद और शक्तियाँ इस तरह से समान रखीं गईं कि कोई इतना शक्तिशाली न हो जाये कि बाकी तीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें अथवा बादशाह की शक्ति पर प्रभाव जमाने लगे। शक्तियों का विभाजन इस प्रकार से किया गया कि बादशाह की शक्ति व सत्ता सर्वोच्च और सर्वमान्य बनी रहे। डॉ० इब्न हसन ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है कि, "Thus the powers of the dominating and all powerful vazir of the Muslim jurists were divided among four ministers of equal rank and status, and a system was established in which all four ministers enjoyed independence in their respective departments and yet came in contact with each other on several points. In such an arrangement there was neither the possibility of passing the entire power into the hands of one of them, nor the question of any one dominating the rest."[1]

●

1. हसन, इब्न, पू० उद्०, पृ० 294

षष्ठ अध्याय

न्याय व्यवस्था

कुरान के अनुसार (ईश्वर) अल्लाह न्यायी है। उसकी सृष्टि का आधार न्याय है। कुरान में बार-बार कहा गया है कि अल्लाह की आज्ञा का सच्चाई से, न्यायपूर्वक पालन करो। जब तुम एक या दूसरे के बीच निर्णय करो तो न्याय से करो। जो न्याय करते हैं अल्लाह उनसे प्यार करता है। पृथ्वी पर न्यायकर्ता राज्याध्यक्ष हैं अतः अमीर व सुल्तान को अपनी प्रजा में न्याय की व्यवस्था करनी चाहिए। न्याय का आधार कुरान तथा शरा है। पैगम्बर तथा खलीफाओं ने न्याय करते समय जो शाही फरमान जारी किए वह न्यायसूत्र थे। उनके बाद मुस्लिम कानून फ्रीज़ (Freez) हो गया। लेकिन मुस्लिम कानूनवेत्ताओं ने कुरानपाक की आयतों तथा शरां की जो व्याख्या की उसने इस्लामिक कानून का आधार पुष्ट किया।

इस इस्लामिक विधिशास्त्र को 'फिक़ह' कहते हैं। इसके चार प्रमुख स्रोत हैं—1. कुरान। 2. सुन्नामें—कुरान के स्पष्टीकरण हेतु अल्लाह की परम्पराओं का उल्लेख है। यह मुहम्मद साहब के जीवन की घटनाओं तथा इस्लामी संस्थाओं का संकलन है। 3. कियास अर्थात् नज़ीर। अनुरूप मामलों का निर्णय एक-सा हो। 4. इज़मा, इसका शाब्दिक अर्थ है सर्वसम्मति अर्थात् किसी मामले पर वह मत जो सभी मुसलमानों को स्वीकार हो। ऐसा होना सदैव सम्भव न होने के कारण बाद में मुज़ताहिद (विद्वान) का मत माना जाने लगा। फिकह का विकास रोमन विधिशास्त्र, खलीफाओं की परम्परा के अतिरिक्त अरब मिस्र, तुर्की, बगदाद इत्यादि इस्लामी देशों की समकालीन न्याययिक परम्पराओं से प्रभावित हुआ।

उम्मैयद तथा अब्बासी खलीफाओं के काल में, सम्भवतया आठवीं नवीं शताब्दी में विधिशास्त्र में कई विचारधाराएँ विकसित हुईं। इन विचारधाराओं को 4 भागों में बाँटा गया है—

1. अबुहनीफा (699-766) यह विचारधारा हनीफी (Hanifi) विधिशास्त्र के नाम से जानी गई।

2. मलिक इब्न अनस (715-795) यह मलिकी कहलाई।

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 95
2. शर्मा, श्रीराम, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 36-37

3. अंश शफी (767-820) यह शफी नाम से जाने गये।

4. अहमद बिन हन्बल (780-855) यह शाखा हन्बली कहलाई।

विधिशास्त्र की इन चार धाराओं का परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक काजी अपनी तरह से कानून की व्याख्या करने के लिए स्वतंत्र हो गया। भारत में कोई इस्लामिक कानून की व्याख्या का उदाहरण न होने के कारण काज़ी विधि शास्त्र की किसी भी एक धारा के अनुसार इस्लामिक कानून की व्याख्या कर सकता था। इस तरह इस्लामिक विधि शास्त्र की व्याख्या उपलब्ध होने के बाद भी उनमें पारस्परिक मतभेद दिखाई देता है। इस्लामिक संसार में इन्हीं चार विचारधाराओं के द्वारा कानून की व्याख्या की जाती है। भारत, पाकिस्तान, तुर्की तथा मध्य एशिया के मुसलमान हनीफी विचारधाराओं को मानते हैं। इनकी संख्या इस्लामिक विश्व में सबसे ज्यादा है। भारत में जब मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई तो देहली के सुल्तानों ने हनीफी विधि शास्त्र को स्वीकार किया। भारत के मुस्लिम सुल्तान, बादशाह और काजी उपरोक्त विचारधाराओं से भिन्न कुरआन की आयतों की प्रामाणिक व्याख्या नहीं कर सकते थे। अतः उन्हें उनके पूर्वजों द्वारा समय-समय पर तैयार किये गये कानूनों का आश्रय लेना पड़ा। अतः भारत में आयतित इस्लामिक विधि शास्त्र में किसी भी प्रकार के विकास अथवा परिवर्तन का कोई स्थान न था।[1] डॉ० इब्न हसन ने लिखा है कि, ...Hence civil law admitted no scope for any change and it remains substantially the same even today in British India.[2] (in Free India also). मुगल बादशाह औरंगजेब ने 2 लाख रुपये खर्च करके विद्वानों (आलिमों) की सहायता से इस्लामिक कानूनों का संग्रह कराया जो फतवाह-ए-आलगीरी के नाम से जाना जाता है। डॉ० श्रीराम शर्मा ने फतवा की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि, "The Fatawa codifies neither the Muslim Law nor practices in the way great codes elsewhere did.[3] इसका परिणाम यह हुआ कि, As is well known to thestudents of medieval history that in a Muslim state the civil law is merged in and subordinated to the canon low, and the theologians are the only jurists."[4]

मुस्लिम विधि शास्त्र के अनुसार न्याय राज्य की प्रमुख आधारशिला है। मुहम्मद साहब ने स्वयं मुकदमों का निर्णय करके इसका उदाहरण प्रस्तुत किया। पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि शासक होता है। इसलिए उसे न्याय का काम करने की

---

1. सरकार, जे०एन०, *पूर्व उल्लिखित,* पृ० 101
2. इब्न हसन, *सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 308
3. शर्मा, श्रीराम, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 201
4. सरकार, *पूर्व उल्लिखित,* पृ० 101

आज्ञा विधिशास्त्र ने दी। यह सम्भव और आवश्यक न था कि शासक विधि विशेषज्ञ हो। अतः मुस्लिम शासक के लिये एक विधि विशेषज्ञ नियुक्त करने की सहूलियत दी गई। सर्वश्रेष्ठ उलेमा जो विधि शास्त्र का ज्ञाता हो उसे ही काज़ी का पद प्रदान किया जाये। विधि शास्त्रियों ने काज़ी के दायित्वों का उल्लेख करते हुए लिखा कि काज़ी को नियुक्ति के बाद रजिस्टर अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। अपनी अदालत मस्जिद में लगाये। काज़ी घर पर कचहरी लगा सकता है परन्तु शर्त है कि वहाँ वादी-प्रतिवादी के बैठने, व्यवहार आदि में कोई भेद नहीं होना चाहिए तथा लोगों के उपस्थित होने के लिये पर्याप्त स्थान हो। काज़ी की सहायता के लिये सहायक रखे जाने का प्रावधान था। काज़ी के कार्यों में शासक को हस्तक्षेप का अधिकार नहीं था। निर्णीत मुकदमें को पुनः शुरू करना या गवाही स्थगित करना अवैधानिक था।

इस्लामिक न्याय व्यवस्था के दो भाग थे एक दीवानी और दूसरा फौजदारी। विवाह, तलाक, विरासत, इस्लामिक कर्मकाण्ड तथा विश्वास दीवानी के अन्तर्गत आते थे। इनके विधान में परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं थी। फौजदारी के मामलों में गवाह के बयान के अतिरिक्त जाँच-पड़ताल करके ही फैसला किया जाता था। फौजदारी के मामलों में सजा सदैव इस्लामिक कानून के अनुसार नहीं दी जाती थी। फौजदारी के मामलों में देश-काल के अनुसार परिवर्तन हो सकता था। इस्लामिक फौजदारी के मुख्य विधान के अपरिवर्तनीय रहने के बाद भी परम्परा के आधार पर न्याय किया जा सकता था।

दीवानी का विधान केवल मुसलमानों पर लागू किया जाता था जबकि फौजदारी का विधान हिन्दू और मुसलमान दोनों पर समान रूप से लागू किया जाता था। डॉ० इब्न हसन ने लिखा है कि परम्परा और समझौता का इस्लामिक विधान हिन्दुओं के लिये भी समान था। लेकिन उत्तराधिकार विरासत, संस्कार, विवाह आदि के हिन्दू नियम-कानूनों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। गाँवों की न्याय प्रक्रिया सुल्तानों तथा मुगलों ने जैसी थी वैसा ही रहने दी। उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया। डॉ० मुखर्जी ने लिखा था कि, "...according to Hindu political thinkers, the king's officers must live out side the village and under the Hindu rule they did not ordinarily interfere with the administration of local affairs excepting when their council is invited."[1] डा० इब्न हसन ने लिखा है कि सुल्तानों ने भी ग्राम न्याय में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

मुगल न्यायिक संगठन

मुगल बादशाहों ने न्याय को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। मुस्लिम विधिशास्त्र

---

1. सरकार, जे०एन०, *पूर्व उल्लिखित,* पृ० 309

उनके राज्य की आधारशिला होने के कारण न्याय का आधार भी था। मुगल बादशाह न्याय के सर्वोच्च अदालत थे। न्यायिक प्रशासन में सहायता करने के लिये मुगल बादशाहों ने एक न्यायिक संगठन बनाया। केन्द्र में सम्राट के अतिरिक्त न्याय का कार्य देखने के लिये प्रधान काज़ी (काजी उल कुजात) होता था। इब्न हसन, डॉ० ए०एल० श्रीवास्तव आदि इतिहासकारों का मत है कि प्रधान काज़ी (काजी-उल-कुजात) एवं (सद्र-अस-सदूर) एक ही व्यक्ति होता था। बादशाह ऐसे व्यक्ति को काज़ी नियुक्त करता था जो मुस्लिम विधिशास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् हो। डॉ० यदुनाथ सरकार के अनुसार उच्चकोटि के अरबी साहित्य का विद्वान तथा चारित्रिक पवित्रता के लिए प्रसिद्ध व्यक्ति ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। उसका कार्यकाल निश्चित नहीं था। लेकिन उसे हटाया जा सकता था।[1] प्रमुख काज़ी को फौजदारी और दीवानी के प्रारम्भिक तथा अपीली मुकदमों के निर्णय करने का अधिकार था। उसकी सहायता के लिए दो अन्य काजी उसकी अदालत से संलग्न थे। न्याय के अतिरिक्त काज़ी का कार्य मस्जिद में सम्राट के नाम का खुत्बा पढ़ना था। मामलों की जाँच-पड़ताल करना, इस्लाम का पालन करवाना तथा शान्ति बनाये रखना था। वह राजधानी की प्रमुख मस्जिद में ईद तथा ज़ुमा (शुक्रवार) की नमाज़ का नेतृत्व करता था। राजपरिवार में निकाह तथा इस्लामिक उत्सव एवं संस्कार वही सम्पन्न कराता था। निजी व धार्मिक कानूनों के विवाद का फैसला करना, कैदखाने का निरीक्षण करना, प्रान्तों व जिलों के लिए काज़ी पद के लिये योग्य व्यक्ति की संस्तुति करना प्रमुख काज़ी का काम था।

प्रमुख काज़ी अतिरिक्त राजधानी के नागरिकों के लिए अलग से काज़ी-ए-अस्कर होता था। राजधानी के सैनिकों के लिए पृथक काज़ी होता था जिसे काज़ी-ए-उर्दू कहते थे। दोनों अपने क्षेत्र में न्याय का कार्य करते थे। परन्तु कभी-कभी जब वादी प्रतिवादी अलग क्षेत्र (सैनिक व नागरिक) के होते तो काज़ी-ए-अस्कर और काज़ी-ए-उर्दू सलाह करके न्याय करते थे।

प्रत्येक अदालत में काज़ी की सहायता के लिए एक दरोगा-ए-अदालत, मुफ्ती, मीर अदल और एक मुहतसिब होता था। मुफ्ती न्यायालय का प्रमुख अधिकारी होता था। डॉ० सरकार ने मुफ्ती के बारे में लिखा है कि वह आधुनिक न्याय व्यवस्था के Advocate General एडवोकेट जनरल की तरह था। वह आगे लिखते हैं कि, "The mufti is the officer who expounds and applies the law to cases, and the gazi is the officer who gives it operation and effect."[2] मुफ्ती प्रशिक्षित विधिशास्त्री होने के कारण उसे

1. त्रिपाठी, आर०पी०, *राइज एण्ड फाल आफ दि मुगल एम्पायर,* पृ० 105-7
2. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 97

फकीह भी कहा जाता था। यदि काज़ी उसके मत से सहमत न हो तो मुकदमा उच्च अदालत में भेजा जाता था डॉ० परमात्मा सरन का मत है कि मुफ्ती एक प्रकार का गैर सरकारी वैधानिक पंच था। कोई भी व्यक्ति जो धर्मशास्त्र का ज्ञाता हो और लोग उसे मानते हों उसे मुफ्ती कहा जाता था। मुफ्ती का काम कानून बताना था।[1] 18वीं सदी में उसकी स्थिति इतनी गिर गई कि लिपिक को मुफ्ती (सरकारी) कहा जाने लगा। मुहतसिब की नियुक्ति औरंगज़ेब के काल में मुसलमानों में इस्लाम धर्म का परिपालन कराने के लिए की गई थी। अकबर जहाँगीर शाहजहाँ के समय उसका उल्लेख नहीं मिलता।

मुगल साम्राज्य में वित्त और भू राजस्व के मुकदमों की सुनवाई दीवान-ए-आला करता था। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी।

मुगल काल में महकमा ए अदालत की विभिन्न अदालतों में प्रयुक्त कानून को डॉ० सरकार ने तीन भागों में बाँटा है—प्रथम धार्मिक कानून, द्वितीय साधारण नागरिक कानून तृतीय राजनैतिक कानून। धार्मिक कानून से सम्बन्धित मुकदमों की सुनवाई काज़ी करता था। नागरिक मुकदमों की सूबेदार, स्थानीय प्रशासनिक अधिकारी तथा ग्राम पंचायतें और जनजातीय पंचायतें और राजनैतिक मुकदमों का बादशाह अथवा उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति सुनवाई करता था। इसके अन्तर्गत मुख्यतः विद्रोह, षडयन्त्र, उपद्रव, चोरी, डकैती, हत्या, सिक्कों तथा व्यापारिक मार्गों पर लूट आदि के मुकदमें सुने जाते थे।[2] निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि न्याय-प्रक्रिया का उद्देश्य उन सभी व्यक्तियों को न्याय दिलाना था जिनके साथ किसी भी प्रकार का अन्याय हुआ हो। वादी तथा प्रतिवादी को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का पूर्ण अवसर दिया जाता था तथा आरोपों की जाँच करवाई जाती थी।[3]

न्याय प्रक्रिया

न्याय प्रक्रिया के बारे में कोई विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। विभिन्न सूत्रों को जोड़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जब कोई वादी काज़ी की अदालत में न्याय की गुहार करता था तो उसे एक लिखित (order) आदेश जिसे दस्तक कहा जाता था दिया जाता था। प्रतिवादी को अदालत में उपस्थित होने का आदेश दिया जाता था। दोनों पक्षों को अपने साक्ष्य प्रस्तुत करने को कहा जाता था। इस्लामिक विधिशास्त्र में केवल चश्मदीद गवाह ही प्रस्तुत किये जा सकते थे। हिन्दुओं के सन्दर्भ में शपथ लेकर गवाही दी जा सकती थी। जाँच-पड़ताल के लिये मुकदमें की

1. डॉ० इब्न हसन ने लिखा है कि मुफ्ती की नियुक्ति आवश्यक नहीं थी। अगर काज़ी स्वयं फतवा देने के योग्य होता था तो मुफ्ती की नियुक्ति नहीं की जाती थी। पृ० 314-315
2. *वही*, पृ० 91-93
3. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 203

प्रक्रिया या सुनवाई स्थगित रखी जा सकती थी। इसके बाद काज़ी अपना निर्णय सुनाता था। निर्णय के साथ एक महज़रनामह भी रहता था। जिसमें वादी घोषणा कर हस्ताक्षर करता था कि वह निर्णय से संतुष्ट है।[1] निचली अदालतों के निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। जिसमें पिछली अदालत की कार्यवाही विशेष महत्त्व नहीं रखती थी। यह मुकदमे विशेष की प्रकृति पर निर्भर होता था।

मुगल बादशाह साम्राज्य विस्तार, विद्रोहों के दमन, इमारतों के निर्माण, सांस्कृतिक कार्यों में इतने व्यस्त रहते थे। तब न्याय का कार्य कैसे करते होंगे? अकबर, शाहजहाँ, औरंगजेब तथा परवर्ती मुगल बादशाह अपनी न्यायप्रियता के लिये जन प्रसिद्ध हैं। जहाँगीर के न्याय के किस्से तो दंत कथा बन गई है। उसने न्याय के लिये महल के बाहर एक सोने की जंजीर लटकवा दी थी। विदेशी यात्रियों हैरी, बर्नियर फिन्च आदि ने भी मुगल दरबार में बादशाहों के द्वारा न्याय करने और कोई सार्वभौम लिखित कानून न होने का अपनी यात्रा वृत्तांतों में उल्लेख किया है। आईन-ए-अकबरी, तुजुके जहाँगीरी आदि में जो वर्णन मिलता है उससे मुगल बादशाहों के न्याय करने के बारे में पता चलता है। विलियम फिंच (William Finch) नामक यूरोपीय यात्री 1611 ई० में भारत आया उसने लिखा था कि आगरे के किले के चार दरवाजे थे। पश्चिम का द्वार जो बाजार में खुलता था उसे कचहरी दरवाजा कहते थे। काजी न्याय का कार्य करने के लिये अदालत लगाता था। उसके बाद वजीर का दरबार था। वजीर प्रतिदिन प्रातः तीन घण्टे न्याय का काम करता था। किराया, अनुदान, कर, भूमि, बकाया, कर्ज, फरमान आदि के सभी मामले उसके सामने प्रस्तुत किए जाते थे। मंगलवार के दिन बादशाह के झरोखे के सामने जमुना के किनारे दण्ड दिया जाता था।

1616 ई० में आने वाले टैरी ने मुगल बादशाहों के न्याय के बारे में लिखा कि, "The Emperor himself moderates in all matters of consequence which happen near his court, for the most part judging secundum, allegata and probata. Trials are quick and so executions. The governors in cities and provinces proceeded in like form of justice."[2] बर्नियर से औरंगजेब के न्याय के बारे में आँखों देखा हाल लिखा है, "All the petitions held up in the crowd assembled in the Hall of Public audience are brought to the king and read in his hearing; and the persons concerned being ordered to approach are examined by the monarch himself, who often redresses on the spot the wrongs of the ag-

1. शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 204
2. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 95

grieved party. On another day of the week he devotes two hours to hear in private the petitions of ten persons selected from the lower orders and presented to the king by a good and rich old man. Nor does he fail to attend the justice chamber, called Adalat, Khanah on another day of the week, attended by two principle qazis.''[1] मनुची ने शाही न्याय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बादशाह (Amkhas) दरबार-ए-आम में न्याय करता था। कुछ वादी अपराधी को मृत्युदण्ड देने की योचना करते थे। बादशाह का न्याय कठोर था, चोरों को मृत्युदण्ड देता था तथा व्यापारियों को लूटने पर उस स्थान के सूबेदार तथा फौजदार को जुर्माना भरना पड़ता था। कुछ मामलों में वह जाँच-पड़ताल करवाता था जिसकी रिपोर्ट बादशाह देखता था।[2]

इन विवरणों से इतना स्पष्ट है कि बादशाह की अदालत प्राथमिक अदालत तथा अपील की सर्वोच्च अदालत दोनों थी। उसके निर्णय के विरुद्ध कहीं अपील नहीं हो सकती थी। सम्राट प्रत्येक दिन खुले दरबार में मुकदमों का निर्णय करता था। छोटे-बड़े सभी को अपना प्रार्थना-पत्र देने की अनुमति थी। बादशाह अकबर साढ़े चार घण्टे झरोखा दर्शन में बैठता था और करीब दो घण्टा न्याय के कार्य में लगाता था। जहाँगीर बादशाह ने सोने की जंजीर महल के बाहर लटकवा रखी थी। सम्राट के कक्ष में उस जंजीर से घण्टा लटका हुआ था। कोई भी फरियादी घण्टा बजा सकता था। जहाँगीर बादशाह, तत्काल फरियादी को बुलाकर उचित कार्यवाही करता था। बादशाह जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में लिखा था कि जिस समय हम सिंहासन पर बैठे उस समय पहली आज्ञा न्याय की जंजीर लगाने की दी। जंजीर का एक सिरा शाहबुर्ज के कंगूरे में लगा था दूसरा नदी के तट पर ले जाकर खम्भों से बाँध दिया जाता था। यह इसलिये था कि यदि न्यायालय के अधिकारी न्याय करने में छल-कपट करें तो न्याय प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति जंजीर हिला कर ध्यान आकर्षित करे। जिससे उसे न्याय प्राप्त हो सके। यह सोने की जंजीर 30 गज लम्बी थी जिसमें 60 घण्टियाँ लगी थीं। उसका वजन 4 मन था। ईराकी मन की तौल से 42 मन के बराबर था।[3] अमीर खुसरो ने नुसिपेहर में दिल्ली के राजा अनंगपाल की इसी तरह की जंजीर का उल्लेख करता है। चीन के एक सम्राट पूतु ने भी ऐसी जंजीर लगवाई थी। इस तरह जहाँगीर ऐसा लगता है पहला बादशाह नहीं था जिसने न्याय के लिए जंजीर लगवाई थी।

---

1. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 95-96
2. *वही*
3. *तुजके जहाँगीरी,* इलियट डाउसन, भाग 5, पृ० 284

शाहजहाँ झरोखा दर्शन तथा खिलवत खाना में न्याय का कार्य करता था। अब्दुल हमीद लाहौरी ने लिखा था कि प्रत्येक बुधवार को शाहजहाँ झरोखा दर्शन से दौलतखना-ए-खास में जाता था जहाँ न्याय से सम्बन्धित अधिकारी प्रवेश पाते यहाँ एक-एक करके फरियादी पेश किये जाते थे। शाहजहाँ उनकी बातें सुनकर न्याय करते थे। झरोखा दर्शन में औरंगजेब अपने शासन के 11 वर्ष तक न्याय करता था। लेकिन झरोखा दर्शन बन्द करने के बाद औरंगजेब सप्ताह में एक दिन बुधवार को न्याय का काम दरबार-ए-आम में करता था। वह सप्ताह के एक दिन 2 घण्टे निम्न श्रेणी के दस मुकदमें चुन कर निर्णय करता था। मुगल बादशाहों ने न्याय के लिये हफ्ते में दिन निश्चित किये हुए थे जैसे अकबर ने न्याय के लिये बृहस्पतिवार, जहाँगीर ने मंगलवार और शाहजहाँ तथा औरंगजेब ने बुधवार निश्चित कर रखा था। न्याय के समय दरबार में काजी, मुफ्ती, कोतवाल, दरोगा-ए-अदालत, मीर अदल तथा उच्च अधिकारी उपस्थित रहते थे।

प्रारम्भिक एवं अपीली मुकदमों के क्षेत्राधिकार का निश्चित नियम नहीं था। दीवानी तथा फौजदारी का कोई भी मुकदमा बादशाह के सामने लाया जा सकता था। सम्राट की आज्ञा के बगैर मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता था। बादशाह को न्याय के विशेषाधिकार थे। वह बादशाह को क्षमा कर सकता था।

अपराध तथा दण्ड

मुगलकाल के अपराध आज के अपराधों से भिन्न नहीं थे। अपराधों में चोरी, डाका, धोखाधड़ी, हत्या, घूस लेना, गबन, यौन अपराध, धर्म अपराध, राजद्रोह, पद का दुरुपयोग आदि थे। इस्लामी कानून के अनुसार दण्ड तीन प्रकार का था—

1. **हद्द :** इसकी सीमाएँ कुरान और हदीस से सीमित कर दी गई थीं। यह अपराध धर्म के प्रति (offence against God) माना जाता था।
2. **किसास :** इसका अर्थ है प्रतिकार अथवा अपराध (offence against state) यह कानून द्वारा निर्धारित है। अपराधी को अगर वादी या उसका उत्तराधिकारी चाहे तो क्षमा कर सकता है।
3. **ताज़ीर :** यह वह अपराध है जिसका हद्द तथा किसास में उल्लेख नहीं है (offence against private individuals) यह काजी की निर्णय बुद्धि पर छोड़ दिया जाता है। इसका उद्देश्य अपराधी को सुधारना है।

हद्द के अनुसार यौन अपराधी को 100 कोड़े लगाने का दण्ड था। विवाहिता स्त्री पर व्यभिचार का आरोप लगाने पर 80 कोड़े, शराब तथा नशीले पदार्थों के सेवन करने वाले को 80 कोड़े, चोर का दाहिना हाथ काटने, डाका डालने पर हाथ-

पैर काटना, मार्गों पर लूट करने पर हाथ पैर काटना, किसी को मारने पर मृत्यु दण्ड या सूली पर चढ़ाना, कुफ्र के लिये मृत्युदण्ड, गैर मुस्लिम को मृत्युदण्ड, ज़िन्दिक (a heretic whose teachings becomes dangerous) को मृत्युदण्ड का विधान था। मुगल सम्राटों ने शारीरिक यातना में परिवर्तन कर दिया था। जहाँगीर ने नाक या कान काटना बन्द करवा दिया था। मुगल बादशाह, सम्पत्ति जब्त करना, जुर्माना जैसे आर्थिक दण्ड, कर्मचारियों को पदच्युत करना, निष्कासन, दरबार में प्रवेश पर रोक, अपमान आदि दण्ड देते थे। इसके अतिरिक्त कारावास और मृत्युदण्ड दिया जाता था।

निष्कर्ष

मुगलकालीन न्याय व्यवस्था का विश्लेषण करने पर दो प्रमुख बिन्दु उभर कर आते हैं, प्रथम यह है कि अकबर और उसके उत्तराधिकारियों ने मुस्लिम विधि वेत्ताओं द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर मुगल सरकार तथा प्रशासनिक व्यवस्था का ढाँचा न केवल बनाया वरन् उसका विकास भी किया। ऐसा किसी अन्य मुस्लिम साम्राज्य में अन्यत्र दिखाई नहीं देता।[1] दूसरा बिन्दु यह है कि न्याय व्यवस्था अन्य प्रशासनिक विभागों की तुलना में असंगठित, कमजोर थी। उसमें कर्त्तव्यनिष्ठ और योग्य व्यक्तियों का अभाव था।[2] इब्न हसन ने उपरोक्त तथ्यों की विवेचना करते हुए लिखा है कि इस्लामिक कानून की परिधि में केवल इस्लाम के अनुयायी ही आते थे। इसलिए उसका क्षेत्र सीमित था। दूसरे तथ्य का कारण था कि हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक स्वरूप के अन्तर्गत सरकार के लिये बहुत सीमित क्षेत्र ही प्रशासन के लिये बचता था। भारत की जनता का 80 प्रतिशत से अधिक गाँवों में निवास करता था। गाँव में civil, criminal नागरिक तथा फौजदारी मुकदमों का फैसला ग्राम पंचायतें ही करती थीं। समाज का शहरों और कस्बों में संगठन तथा पैतृक और जनजातीय व्यवस्था (बिरादरी) इस प्रकार की थी कि Litigation न्यूनाधिक रह जाते थे। सभी व्यक्तियों के एक-दूसरे को व्यक्तिगत तौर पर जानने के कारण सभी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर थे। जिसका परिणाम यह था कि कोई भी विवाद स्थानीय स्तर पर ही निबटा दिया जाता था।[3] व्यापारिक लेन-देन, या सम्पत्ति अथवा भूमि विवाद भ्रष्टाचार और लगान से सम्बन्धित मामले ही सरकारी अदालत में जाते थे। फौजदारी के मामले मुख्यतः राहजनी, चोरी, डकैती, लूट के होते थे। अपहरण, अनाचार, उत्पीड़न हत्या के मामले न के बराबर थे। फौजदारी के मामले मानव की सुरक्षा के लिये खतरा और

1. हसन, इब्न, पू० उद्०, पृ० 339
2. *वही*
3. *वही*

मानवता का हनन तथा पारस्परिक सम्बन्धों के लिये खतरनाक माने जाते थे। ऐसे मामलों का निर्णय सरकारी अदालतें तथा मुगल बादशाह करते थे। लगान के मामले भी किसानों के कम और लगान वसूल करने वालों पर बकाया और भ्रष्टाचार के ज्यादा होते थे।

मुगल सरकार ने तत्कालीन सामाजिक संगठन में परिवर्तन करने का कोई प्रयास नहीं किया और न ही गाँवों तक अदालतों का जाल बिछा कर प्राचीन न्यायिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न किया। मुगल सरकार ने तो ऐसे अवसर पैदा किये और न Litigation के लिये लोगों को उकसाया जैसा अंग्रेजी शासन में किया गया।[1] ऐसी स्थिति में प्रान्तों, जिलों और परगनों में जो अदालतें बनाई गई थीं, पर्याप्त थीं। न्याय त्वरित और निष्पक्ष था। जनता का जीवन सुरक्षित था और उन्हें सरकार के न्याय पर विश्वास था जो न्याय व्यवस्था की अथवा सरकार के स्थायित्व का मेरुदण्ड हैं। मुगल शासक अपनी साख बनाये रखने के प्रति बहुत सजग थे। उन्होंने अपनी न्यायप्रियता का उदाहरण सदैव अपने निष्पक्ष न्याय के माध्यम से दिया। उन्होंने प्रजा को यह सन्देश दिया कि कानून से ऊपर या अलग कोई नहीं है। डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि, "...the rulers seem have had comprehensive view of their judicial functions... They took care to secure even handed justice between private citizens so that the high should not prey upon the low. They exerted themselves so as to secure protection to citizens against their own public servants. If and when once they were apprised of any misconduct on the part of anyone, nothing could keep them from dealing appropriately with the offenders."[2] इसी सन्दर्भ में यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि अकबर ने भ्रष्टाचारी काजियों पर नियन्त्रण रखने के लिये उनका अधिकार क्षेत्र सीमित कर दिया तथा सूबेदारों को काजियों पर नजर रखने का आदेश दिया। मदद-ए-माश के कारण काजी सम्पन्न और शक्तिशाली बन जाते थे। औरंगजेब के समय प्रमुख काजी अब्दुल वहब ने 16 वर्षों तक भ्रष्ट आचरण कर 33 लाख रुपया नकद तथा बहुमूल्य जवाहरात तथा गहने एकत्र किए। औरंगजेब ने उसे दण्ड दिया।

मुगल न्याय व्यवस्था के बारे में यह निश्चित है कि निर्णय केवल साक्ष्य पर ही नहीं वरन् जाँच-पड़ताल करके किया जाता था। न्याय प्रक्रिया सरल थी। न्याय त्वरित था। कोर्ट फीस तथा वकीलों के दाँवपेंच नहीं थे। न्याय निष्पक्ष और दण्ड

---

1. हसन, इब्न, *सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑव मुगल गवर्नमेण्ट,* पृ० 341
2. शर्मा, श्रीराम, *पू० उद्०,* पृ० 209

सबके लिये समान था।[1] मुगलकालीन न्याय व्यवस्था का अध्ययन करते समय व्यवहारिक पक्ष को अधिक महत्त्व देना चाहिए न कि सैद्धान्तिक पक्ष को। उनका अध्ययन भारत में अंग्रेजी शासन में स्थापित केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित अदालतों तथा कानून संग्रह के दृष्टिकोण से नहीं करना चाहिए[2] क्योंकि शासन के सिद्धान्त तथा प्रशासन व्यवस्था के मानकों में भिन्नता होने के कारण दोनों व्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न थीं।

1. हसन, इब्न, *सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑव मुगल गवर्नमेण्ट*, पृ० 344
2. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 91

सप्तम अध्याय

मुगल सैन्य व्यवस्था तथा मनसबदारी प्रथा

मुगल साम्राज्य की स्थिरता तथा शक्ति का आधार स्तम्भ सेना थी। साम्राज्य का विस्तार, प्रशासन की सक्रियता, बादशाह का गौरव, देश की सुख शान्ति सभी कुछ सैन्य कुशलता पर निर्भर थी। बाबर की विभिन्न विजयों में सफलता तथा भारत में साम्राज्य की स्थापना, हुमायूँ की शेरशाह के हाथों पराजय और भारत की पुनर्विजय मुगल सेना की कुशलता का इतिहास है। मुगल सैन्य व्यवस्था मध्य एशिया के सैनिक संगठन पर बहुत हद तक आधारित थी। मध्य एशिया में मंगोलों का सैन्य संगठन एक व्यवस्थित व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ था। मंगोल नेता चंगेज खाँ ने अपनी सेना संगठन हजार, सौ तथा दस में बाँट कर किया था।[1] उसने सौ तथा हजार सैनिकों का कमाण्डर अनुभवी तथा व्यक्तिगत तौर पर जानते हुए व्यक्तियों को बनाया था। चंगेज खाँ ने एक व्यक्तिगत सुरक्षा सेना भी बनाई थी। जिसमें उच्च कुल के जवानों को भर्ती किया जाता था। चंगेज खान उनकी भर्ती उनके बलिष्ठ शरीर, कुल, योग्यता की जाँच करके करता था। इस सेना में इनके अतिरिक्त योग्य तरकत (स्वतंत्र) व्यक्तियों को ही प्रवेश दिया जाता था। खान की सुरक्षा सेना हजार बहादुर सिपाहियों की होती थी जो युद्ध के मैदान में सबसे आगे और शान्ति के समय खान की व्यक्तिगत सुरक्षा का दायित्व निभाती थी। अब्दुल अज़ीज़ ने लिखा है "The institution of the aristocratic guard and the appointment of chiliarchs and centurions laid the foundations of the military organization of the steppe aristocracy. The nobles ceased to be the undisciplined heads of a disorderly militia." मंगोलों ने सेना में कड़ा अनुशासन लागू किया। जिससे मंगोल सेना हजार, सौ की इकाई में विभक्त एक योग्य सैनिकों की शक्तिशाली संगठित सेना बन गई। मंगोलों की सेना का संगठन कोई नया नहीं था। प्राचीन रोमन और ग्रीक सेनाओं के संगठन का आधार यही था। "We may incidentally remark here that myriarchs, chilliarchs, centurions and

---

1. अज़ीज, अ०, *दी मनसबदारी सिस्टम एण्ड दि मुगल आर्मी*, इदराह-ए-अदाबियात-ए-दिल्ली, दिल्ली, 1972, पृ० 175

decurions i.e., the leaders of 10,000, 100 and 10 respectively are analogous phenomena in ancient Greek and Roman military history."[1] उसने विभिन्न जाति और कबीलों के सैनिकों को एक इकाई में संगठित किया जिनका सेना अध्यक्ष उसी कबीले तथा जाति के योग्य व्यक्ति को बनाया। जिससे दो लाभ हुए एक तो आवश्यकता पड़ने पर अधिक सैनिक भर्ती किए जा सकते थे दूसरे सेना कमाण्डर का अपनी सैनिक टुकड़ी पर पूर्ण नियन्त्रण था। अब्दुल अजीज के अनुसार इसका परिणाम यह हुआ कि, "This policy preserved the clan constitution from decomposition, while giving it at the same time a regular, if rudimentary military skelton.."[2] चंगेज खाँ ने परम्परागत तौर पर सेना को तीन भागों में बाँटा एक केन्द्र दूसरा वाम भाग और तीसरा दाहिना भाग था। सेना में भर्ती का निश्चित नियम था। मध्य एशिया में प्रचलित मंगोल सैन्य व्यवस्था के बहुत से तत्त्व बाहर के सैन्य संगठन में देखे जा सकते हैं। बाबर की सेना में तुर्क, मंगोल, उज़बेक, चगतई, ईरानी तथा अफगान आदि सम्मिलित थे। बाबर ने इन विभिन्न कबीले और जाति के लोगों को मध्य एशियाई सैन्य संगठन के आधार पर संगठित कर अपने विश्वसनीय तथा योग्य व्यक्तियों के अन्तर्गत रखा। उसने अपनी सेना में स्वामिभक्त, निष्ठा तथा अनुशासन को विशेष महत्त्व दिया। उसकी सेना के प्रमुख अंग थे पैदल, घुड़सवार, तोपखाना, गाड़ीवान तथा तोपची। बाबर की सेना में तोपखाना सबसे महत्त्वपूर्ण था जिसे बाबर ने अपने स्वामिभक्त विश्वसनीय उस्ताद अली तथा मुस्तफा नाम के तोपचियों के आधीन रखा। इनकी सहायता से अच्छी तोपों का निर्माण कराया। 1526 ई० उसने एक ऐसी तोप बनवाई। जिससे एक हजार चार सौ गज तक पत्थर फेंके जा सकते थे। इस तोप का प्रयोग उसने खानवा के युद्ध में किया था। बाबर ने अपने प्रमुख सैनिकों को भरण-पोषण के लिए जागीरें दीं। इन जागीरों में शान्ति व्यवस्था तथा लगान वसूल करना उनका उत्तरदायित्व था। इस तरह बाबर के सैनिकों तथा प्रशासनिक अधिकारियों में कोई भेद नहीं था। हुमायूँ ने इस सैनिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया। बैरम खाँ के कुशल नेतृत्व ने हुमायूँ को उसका खोया साम्राज्य वापस दिलाने में बहुत सहायता की।

अकबर का सैन्य संगठन

हुमायूँ की मृत्यु के बाद 13 वर्ष की उम्र में अकबर गद्दी पर बैठा। हुमायूँ के द्वारा प्रदत्त राज्य अकबर की तरह ही अल्प आयु में (क्षेत्र में) था। जो अनेक संकटों

---

1. अज़ीज, अ०, *दी मनसबदारी सिस्टम एण्ड दि मुगल आर्मी*, इदराह-ए-अदाबियात-ए-दिल्ली, दिल्ली, 1972, पृ० 178
2. *वही*, पृ० 176

से घिरा था। मुगल सेना के प्रमुख सेनापति तथा सिपहसालार जिनमें इस्कन्दर मिर्जा, तर्दी बेग, अली कुली खाँ, शमसुद्दीन अतका खाँ, किया खाँ आदि में मतभेद हो गया। अकबर के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में अमीरों ने कई विद्रोह किए। बैरम खाँ ने इन विद्रोहों का बड़ी कुशलता से दमन किया तथा विद्रोहियों को कठोर दण्ड दिया। इन अमीर सैनिकों के विद्रोही होने का कारण उनके पास धन सम्पन्न जागीरें और अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियाँ होना था। साम्राज्य विस्तार की विभिन्न युद्धों में महत्त्वपूर्ण सफलता पाने से वह दम्भी, हठी तथा शक्तिशाली हो गये थे। उनकी बादशाह के प्रति स्वामिभक्ति और निष्ठा में भी कमी हो गई। अकबर बादशाह के खिलाफ षडयन्त्र रचने के साथ-साथ उन्होंने सीधे बादशाह पर अपना निशाना साधा अकबर ने इन विद्रोहियों तथा उनकी विद्रोही प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। उसने सैनिकों के वेतन का निर्धारण उनकी पैदल, घोड़ों तथा अन्य युद्ध के सामान के आधार पर किया। उसने सैनिकों का हुलिया लिखने, घोड़ों व जानवरों को दागने, अनुशासन तथा ट्रेनिंग पर विशेष ध्यान दिया। झरोखा दर्शन के समय सैनिक टुकड़ियों की परेड करवाने से सेना को चुस्त-दुरुस्त रहना पड़ता था और बादशाह उनका निरीक्षण भी कर लेता था। मुगल सेना के कई अंग थे। पैदल, घुड़सवार, ऊँट सेना, हाथी सेना, तोपखाना, नौसेना तथा मालवाहक दल।

पैदल सेना

पैदल (Infantry) सेना आजकल की पैदल सेना, जो अंग्रेजी भारतीय सैनिक संगठन का महत्त्वपूर्ण भाग है, से सर्वथा भिन्न थी। मुगल सेना में पैदल सेना का अर्थ था—अहशाम (ahsham) जिसका अर्थ है नौकर। साधारण भाषा में उन्हें पियादा (Piada) कहा जाता था। डॉ० सरकार ने इनका खाका इन शब्दों में खींचा है, "In picturing the ahsham we must banish from our minds all ideas of a modern regiment of infantry, and regarded them as made up of militia men, armed police, and even servants carrying (for the occasion) a sword or short spear. Their fighting value was nothing, and they merely served as watchmen."[1] डॉ० पी० सरन ने पैदल सेना का वर्णन इस प्रकार किया है, "The infantry comprised a heterogeneous mass of matchlockmen, archers, swordsmen, lance—bearers, etc., and all manner of menial servants attached to the regular troops."[2] डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि मुगलों की सेना का तीसरा भाग अहदी का था जिसमें (gentlemen troopers) सामान्य सैनिक होते थे जो बादशाह के प्रति

1. सरकार, जे०एन०, पू० उद्०, पृ० 204
2. सरन, पी०, पू० उद्०, पृ० 106

उत्तरदायी थे। अहदी की नियुक्ति बादशाह स्वयं करता था। इसके अतिरिक्त दाखिली सैनिक होते थे। इनकी भर्ती बादशाह करता था। दाखिल सैनिकों को ऐसे सेनानायकों को दिया जाता था जो स्वयं सैनिकों की भर्ती नहीं कर सकते थे। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि पैदल सेना मुगल सेना का महत्त्वपूर्ण अंग थी। उसकी निष्ठा अमीर सरदारों के प्रति न होकर बादशाह के प्रति थी।

घुड़सवार सैन्य दल

घुड़सवार सैन्य दल मुगल सेना का महत्त्वपूर्ण दल था। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि घुड़सवार इकाई मुगल सेना की मुख्य इकाई थी।[1] इसका प्रमुख कारण था कि राज्य की शक्ति सैनिक शक्ति पर आधारित थी। मानसरेट ने मुगल सेना के बारे में लिखा था कि पूरी मुगल सेना ही लड़ाकू शक्ति थी लेकिन घुड़सवार उसमें पुष्प की तरह थे।[2] इतिहासकार इरविन ने मुगल सेना के बारे में लिखा है कि, "The army was essentially an army of horseman. The Moghuls from beyond the oxus were accustomed to fight on harseback only, the foot soldier they despised..." इतिहासकार ओरोम ने लिखा कि मुगल सेना का सारा भार घुड़सवार सेना पर था। घुड़सवार सेना में अच्छी नस्ल के घोड़े पर युद्ध का दारोमदार होता था।[3] घुड़सवार सेना दो भागों में विभक्त थी। एक भाग जिसे बर्गीर (Bargir) कहते थे उसे घोड़े इत्यादि सरकार देती थी परन्तु घुड़सवार की तनख्वाह कम थी। दूसरे भाग के घुड़सवार सिलेहदार कहलाते थे। इनके घोड़े अपने होते थे। घोड़ों की देखभाल के लिये स्वयं खर्च करते थे अतः उनकी तनख्वाह बर्गी से दुगुनी तिगनी थी।

तोपखाना

मुगल तोपखाना मुगल सेना का महत्त्वपूर्ण अंग था। मुगल तोपखाने में तोपची तथा पैदल तोपची होते थे। दरोगा-ए-तोपखाना आग्नेय अस्त्र इत्यादि की व्यवस्था देखता था। मुगल सेना में फ्रेंच, पुर्तगालियों, यूरेशियन तथा यूरोपियों को तुरन्त रख लिया जाता था क्योंकि उनकी बन्दूकें ज्यादा अच्छी थीं और उनका निशाना भी ज्यादा सही था।[4] तोपखाना 2 भागों में बँटा हुआ था जैसे जिन्सी (हल्का) तथा दस्ती (भारी) दोनों भागों के अलग-अलग दरोगा तथा शस्त्रागार होते थे। अगर उनका केन्द्र एक ही स्थान पर हो तो भी दोनों विभाग पृथक-पृथक कार्य करते थे।

---

1. सरन, पी०, *पू० उद्०*, पृ० 106
2. ....yet the cavalry is regarded as in every way the flower of the army. Monserrat, Commentary, p. 88
3. अज़ीज़, अब्दुल, *पू० उद्०*, पृ० 181
4. सरकार, *पू० उद्०*, पृ० 204

यूरोपीय इतिहासकारों का कहना था कि मुगलों को (तोपखाने) आग्नेय अस्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं था। (... and in artillery they never became very proficient—Irvin).[1]

मुगलों की सेना में हाथियों की एक अलग सैनिक टुकड़ी थी। इसके लिए अलग से पीलखाना होता था। युद्ध में हाथियों पर बैठ कर सेना का दूर-दूर तक निरीक्षण किया जाता था। भारी सामान ढोने में भी उनका प्रयोग होता था। किलों के भारी-भरकम दरवाजों को तोड़ने का काम भी हाथी करते थे। लेकिन बमबारी से हाथी बिदक जाते थे जिससे अपनी सेना को रौंदते निकल जाते थे। फिर भी मुगल सेना में हाथियों का विशेष महत्त्व था।[2]

नौ सेना

मुगल सेना के पास जहाजी बेड़ा था परन्तु युद्धपोत नगण्य थे। यूरोपीय इतिहासकारों ने लिखा है कि मुगलों के पास कोई नौ सेना नहीं थी।[3] लेकिन जलयुद्ध के अनेकानेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिसमें मुगलों ने अपने शत्रुओं के विरुद्ध नौसैनिक बेड़ों का प्रयोग किया था। 1574 ई० में पटना और हाजीपुर में अफ़गान विद्रोही दाउद के विरुद्ध मुगल जहाजी बेड़े ने सहायता दी थी। 1590 ई० में थट्टा के मिर्जा जानी का विद्रोह दबाने में मुगल सेना को सफलता प्राप्त हुई थी। औरंगजेब ने कूच-बिहार तथा आसाम के राजाओं का दमन करने के लिये सफलतापूर्वक नौसेना का प्रयोग किया था।[4] 1662 ई० में बंगाल के सूबेदार और मीर जुमला ने आसाम के विरुद्ध युद्ध में नौसेना का नेतृत्व किया था। इब्न मोहम्मद वली ने फातिया-इ-इब्रिया तथा शिहाबुद्दीन तालीश ने तारीखे-फ़तह-असम में असम के राजा से मुगलों के नौसैनिक मुकाबले का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। शिहाबुद्दीन इस युद्ध में मीर जुमला का सहायक था। अतः इस अभियान का आँखों देखा तथ्यात्मक वर्णन किया है। उसके अनुसार इस युद्ध में 13 प्रकार के 323 प्रकार के जहाजों का प्रयोग किया गया था। इनके नाम इस प्रकार हैं—

1. कोशा 159	6. पतीला 1	11. खाटगिरी 10
2. जलबा 10	7. सल्ब 2	12. महल्लगिरी 5
3. गाब 7	8. पातिल 1	13. पलवारा और छोटे जहाज 24[5]
4. परिन्दा 4	9. भार 1	
5. बाजरा 50	10. बालम 2	

1. अज़ीज, अ०, *पू० उद्०*, पृ० 181
2. सरकार, जे०एन०, *पू० उद्०*, पृ० 205
3. अज़ीज़, *वही*, पृ० 181
4. वर्मा, ह०(सं०), *पू० उद्०*, पृ० 334
5. *वही*

फ़ातिया-इ-इब्रिया में शाइस्ता खाँ (जो बंगाल का सूबेदार था) का अरकानी नौसेना से लड़ाई का वर्णन है। इस युद्ध में 288 ताकतवर नौसेना के जहाजी बेड़ों का प्रयाग किया गया था। अरकानी नौ बेड़े जो मुगलों ने पकड़ लिये थे उसमें कुल मिलाकर 135 जहाज थे जो इस प्रकार हैं—

1. खालू 2 कोसा 12
2. घुराव 1 जलबा 67/68
3. जंगी 22 बालम 22[1]

मुगल नौ बेड़े तथा अरकानी जहाजों के नाम काफी मिलते-जुलते हैं। डब्ल्यू० एच० मोरलैंड ने गोलकुण्डा के जहाजी बेड़ों का वर्णन किया है जिनकी माल ढोने की क्षमता 600 टन थी। सत्रहवीं सदी में आने वाले अंग्रेज यात्री टामस बावरी (Thomas Bowrey) ने लिखा है कि बंगाल से कोरोमंडल तक 'मसोला' नामक नाव का प्रयोग किया जाता था। जो समतल पैंदे वाली सिलाई वाली नाव थी। तख्तों को नारियल की जटा से सिला जाता था। उल्लेख बताते हैं कि मुगलों ने अपने साम्राज्य के बंदरगाहों की सुरक्षा के लिये व्यापक प्रबन्ध किया था। मुगलों ने जंजीरा के अबेसीनियन शासक सिद्दी पर तटों की सुरक्षा का भार सौंपा था। बंगाल की खाड़ी में एक युद्धपोत का जहाजी बेड़ा तट की सुरक्षा के लिए रहता था। इसके रख रखाव तथा खर्च के लिए 14 लाख रुपये वार्षिक दिये जाते थे। इसके लिये नववारा नाम का अलग विभाग था जिसका अध्यक्ष दरोगा था। युद्ध पोतों के सेनानायक सैनिक होते थे। समुद्र में अन्य जहाजों से लड़ाई का काम फिरंगी करते थे। जबकि तट व जमीन पर तट सेना युद्ध करती थी।

मुगल काल में नाव व जहाजरानी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। इसका प्रमुख कारण भारतीय उपमहाद्वीप का विस्तृत समुद्र तथा उस पर अनेकानेक बन्दरगाह थे। भारत का व्यावसायिक सम्बन्ध फारस, अरब, अफ्रीका के साथ-साथ सुदूर पूर्व तथा यूरोप से था। बाह्य समुद्रतटीय व्यापार के अनुपात में ही अंतर्देशीय जल क्षेत्र में भी यातायात बहुतायत में था। बंगाल में सुनियोजित जलमार्ग और साथ ही सिन्धु तथा गंगा-नदियाँ आवागमन के साथ-साथ व्यापार के उद्देश्य से भी पूरी तरह इस्तेमाल होती थीं। मुगलों, मराठों और कई छोटे राज्यों ने नौसेना की बढ़ती माँग को देखते हुए अपने बहुमूल्य साधनों को जहाज के निर्माण में लगा दिया। मुगलों ने बंगाल में नौसैनिक अड्डे स्थापित किए जिसका संचालक एक अधिकारी 'मीर बहरी' होता था। उसका प्रमुख कार्य फिरंगी समुद्री डाकुओं से तटों की रक्षा करना था। अकबर के समय राजकीय नाव बेड़े में 3000 जहाज थे लेकिन बाद में इसमें 768 जहाज ही रह गये। स्थानीय राजाओं के पास अपनी

---

1. वर्मा, ह० (सं०), पू० उद्०, पृ० 334

नौकायें थीं जैसे श्रीपुर के केदार राय, वाकला के रामचन्द्र राय और जैसोर के प्रतापादित्य।[1]

उपरोक्त विवरण से हमें मुगलकालीन नौ सेना के बारे में पता चलता है। यूरोपीय व्यापारियों के रिकार्ड्स व यात्रा वृतांतों में मुगलकालीन युद्धपोतों, नावों के निर्माण उनके बनावट तथा वर्गीकरण का उल्लेख मिलता है। लेकिन नौकाओं से परिवहन तथा व्यापार का इतना बड़ा परिमाण मुगल भारत में जलपोतों की क्षमता और उन्नत तकनीक का परिणाम था। शान्तिपूर्ण ढंग से व्यापार करने में उन्हें परम्परागत दिशा ज्ञान तथा नाव निर्माण को परिष्कृत करने में सहायता दी। पुर्तगालियों से पहले वह शान्तिपूर्ण ढंग से बगैर युद्धपोतों के समुद्री यात्राएँ करते थे लेकिन यूरोपीय और पुर्तगालियों ने जिस समुद्री युद्ध का प्रारम्भ किया उसमें भारतीय नाविक अनुभव शून्य थे। इस तथ्य के बाद भी भारतीयों ने अवसर के अनुकूल बनने की चेष्टा की जिससे वह यूरोपीय शक्ति का सामना कर सकें।[2]

मनसबदारी व्यवस्था

मनसबदारी व्यवस्था मुगल सैन्य संगठन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही अमीरों पर नियन्त्रण करने के लिए वित्त विभाग की पुर्नव्यवस्था करने तथा सैन्य संगठन का पुर्नगठन करने की आवश्यकता का अनुभव किया था। बैरम खाँ महामनगा की अनियन्त्रित शक्ति, अकत खाँ आदि के विद्रोहों ने बादशाह की शक्ति को सुरक्षित करने के लिए ठोस कदम उठाने की आवश्यकता पर बल दिया। बादशाह अकबर ने शासन की बागडोर सम्भालते ही साम्राज्य विस्तार तथा वित्त विभाग की पुर्नव्यवस्था प्रारम करवाई। वित्त विभाग के आँकड़ों से पता चला कि विभिन्न फसलों की अनुमानित आय में वास्तविक आय से कृत्रिम वृद्धि दिखाई गई है। जब भू राजस्व को नये प्रकार से लागू किया गया तो अमीर वर्ग द्वारा पोषित सैनिकों की संख्या में भी कमी करना आवश्यक हो गया। अमीर वर्ग अपनी जागीर तथा सैन्य दलों के कारण अत्यन्त शक्तिशाली हो गये थे। जिसके कारण वह षडयन्त्रों, कुचक्रों और विद्रोहों में लगे रहते थे। अलाउद्दीन ने अमीरों की शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए उनको निर्धन बनाने की नीति अपनाई थी लेकिन अकबर ने न तो जागीर व्यवस्था को समाप्त किया और न ही अमीरों को शक्तिहीन बनाने के लिए उनका धन छीना वरन् भू-अनुदान क्षेत्रों के आकार तथा सैनिकों की संख्या में परिवर्तन कर दिया। वस्तुतः किसी अमीर के लिए अपेक्षित सैन्य दल की संख्या में नियत संख्या से कमी या वृद्धि दोनों ही राज्य के हित में नहीं

1. वर्मा, ह० (सं०) पू० उद्०, पृ० 333
2. *वही,* पृ० 332-341

थी। अकबर का विचार एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना था जिसमें किसी भी व्यक्ति को प्रशासनिक क्षेत्र में अपनी निष्ठा व कार्यकुशलता के एवज में प्रोन्नति का समान अवसर मिल सके।[1]

मनसबदारी व्यवस्था का अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि मनसब संख्यात्मक थे जो मंगोलों के संख्यागत सैनिक वर्गीकरण की तरह सदी, हजारा आदि पद संज्ञाओं पर आधारित थे। मनसबदारों भूमि या जागीर प्राप्त अमीर पहले से थे और अकबर द्वारा मनसब बाद में प्रदान किए गये। लेकिन नये सैनिक जिन्हें बाद में मनसब दिए गए के सम्बन्ध में भी यही माना जाता है कि उन्हें भूमि अनुदान पहले दिया गया और मनसब बाद में। मुगल सेवा में एक ही संवर्ग था जिसमें सैनिक और दीवानी प्रशासन का समावेश था। किसी भी सरकारी कर्मचारी को सैनिक तथा नागरिक सेवा करने का दायित्व सौंपा जा सकता था। अब्दुल अज़ीज़ ने लिखा है कि पूरी प्रजा से ही सैनिक दायित्व निभाने की अपेक्षा की जाती थी। यूँ तो नकद वेतन दिया जाता था लेकिन जागीरें देने का अर्थ उस भू-क्षेत्र से राज्य को प्राप्त सभी देयों की वसूली करना था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मनसब कोई पद या पद-संज्ञा नहीं थीं, प्रत्युत मुगल प्रशासनिक सेवा अनुक्रम में किसी व्यक्ति या अमीर की स्थिति की सूचक मात्र थी। इस प्रकार मनसब का अर्थ पद या श्रेणी था, नहीं कहा जा सकता। अकबर के शासन के प्रारम्भिक दस्तावेजों में इसका उल्लेख न मिलने के कारण मनसबदारी व्यवस्था का अध्ययन एक दुष्कर कार्य है। मोरलैंड, अब्दुल अज़ीज़, डॉ० आर०पी० त्रिपाठी, डॉ० पी० सरन, डॉ० यदुनाथ सरकार, ए०जे० कैसर, डॉ० आर०एस० शर्मा तथा शीरीन मूसवी आदि ने मनसबदारी व्यवस्था की पहेली को सुलझाने का प्रयास किया है। ए०जे० कैसर ने आईन अकबरी में तथा तबकाते अकबरी उल्लेखित मनसबदारों की सूची का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इरफान हबीब तथा शीरीन मूसवी ने 'जात' और 'सवार' पदों के निरूपण की विशद व्याख्या की है। विस्तार से इसकी जानकारी के लिये इनके ग्रन्थों तथा लेखों का अध्ययन करना चाहिए। विभिन इतिहासकारों के मत मतान्तर का उल्लेख सन्दर्भ के अनुसार किया गया है।

मनसबदारी व्यवस्था को मुगल प्रशासन में अकबर ने निश्चयात्मक ढंग से प्रारम्भ किया। इस व्यवस्था का आरम्भ अकबर के शासन के अठारहवें-उन्नीसवें वर्ष (1576) में शुरू हो पाया। अमीरों और अफसरों को संख्या के आधार पर एकल मनसब प्रदान किए जाते थे। अमीरों को दिए जाने वाले मनसब 10 से लेकर 5000 तक के होते थे। इनकी कुल 66 कोटियाँ थीं। सभी मनसब बादशाह के द्वारा दिए जाते थे। यह मनसब 100 तक तो 10 के गुणनफलों के आधार पर दिए जाते थे लेकिन इससे ऊपर के मनसब 50 और 100 के गुणनफलों के अनुसार प्रदान किये जाते थे।

---

1. *वही*, पृ० 113

डॉ० सतीश चन्द्रा ने लिखा है कि 66 एक पवित्र संख्या मानी जाती थी।[1] लेकिन यह तय नहीं है कि सभी मनसब दिए जाते थे। डॉ० त्रिवेदी ने लिखा है कि व्यवहार में केवल 33 मनसब ही दिए जाते थे।[2] मनसबदार शब्द का प्रयोग सभी मनसब प्राप्त व्यक्तियों के लिए किया जा सकता था। 500 से 2500 तक के दर्जे धारण करने वाले अमीर और 25000 से ऊपर के दर्जे के मनसबदारों को अमीर-ए-उम्दा या अमीर-ए-आज़म कहा जाता था। बाद में 1000 से नीचे की कोटि के व्यक्तियों को भी मनसबदार कहा जाने लगा। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि मनसबदारी एक ही सेवा संवर्ग था। अत: यह माना जाता था कि किसी का भी प्रवेश सबसे निम्न कोटि से होना चाहिए। जहाँ से प्रगति करके प्रोन्नति से ऊपर के मनसब प्राप्त करें। बादशाह प्रतिष्ठित लोगों, राजकुमारों, राजपरिवार के सदस्यों को उच्चतर मनसब प्रदान कर सकता था। यह सुविधा स्थानीय राजाओं को भी दी जा सकती थी। 5000 से ऊँचे के मनसब केवल शाही परिवार के सदस्यों के लिए सुरक्षित थे। बादशाह अकबर ने मिर्जा अजीज कोका, जो अकबर का दूध भाई था तथा राजा मानसिंह को 7000 का मनसब प्रदान किया था। मानसिंह अकबर का रिश्तेदार था। 7000 का दर्जा सबसे अभिलषित मनसब था। अकबर के शासन के अठारहवें वर्ष से पहले वेतन पद से सम्बन्ध के दायित्वों का निरूपण किए बगैर ही कर दिया जाता था। मनसब प्राप्त होने से पूर्व भी वह भू क्षेत्रों के स्वामित्व के कारण आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे। लेकिन मनसबदारी प्रथा के विकास के साथ मनसबदारों की आय (वेतन) उनके दायित्व तथा उनके द्वारा रखे जाने वाले पशुओं और उनके भरण-पोषण के लिए खर्च नियत किया जाने लगा। इस तरह का कार्य सम्भवतया 'दाग' प्रथा के प्रारम्भ किए जाने पर हुआ।

दाग प्रणाली

दाग प्रणाली का मतलब था कि मनसबदार द्वारा रखे जाने वाले प्रत्येक सिपाही का चेहरा या उससे सम्बन्धित विवरण दर्ज किया जाये। पशुओं की संख्या, घोड़ों की किस्म तथा जानवरों को दागना इसी प्रणाली का अंग था। मनसबदारों की सेना की जाँच-पड़ताल के समय, उपरोक्त विवरण का मिलान किया जाता था। जिनके यहाँ गड़बड़ी पाई जाती थी उन्हें दण्डित किया जाता था। मनसबदारों की प्रोन्नति उनकी व्यक्तिगत योग्यता, निष्ठा के साथ-साथ उनके सैनिक और पशुओं की दशा पर निर्भर थी। अमीरों ने 'दाग' प्रथा का विरोध किया। कुछ वरिष्ठ अमीर जैसे वकील मुनीम खाँ अथवा वकील मुजफ्फर खाँ अपनी-अपनी टुकड़ियों को दाग के लिए उपस्थित करने को तैयार नहीं थे। मिर्जा अज़ीज़ कोका ने जब इस शाही आदेश को मानने से इन्कार किया तो उसकी अवनति कर दी गई और उस पर नजर

1. चन्द्रा, सतीश, *मध्यकालीन भारत*, पृ० 156
2. मोरलैंड, *अकबर से औरंगजेब तक*, अनु० त्रिवेदी, के०के०, पृ० 117

रखी जाने लगी। शाही दीवान तथा मीर बख्शी ने दाग प्रथा को लागू कराने के लिए कठोर कदम उठाये। डॉ० सरकार ने लिखा है कि सैनिकों और पशुओं को दागने अथवा विवरण का मिलान करने के लिए एक दरोगा होता था और मिलान के काम को दाग-वा-चेहरा कहते थे।[1]

दाग प्रणाली को बड़ी कठोरता से लागू करने का प्रयत्न किया गया लेकिन उसमें मनसबदारों के असहयोग और विरोध के कारण पूर्ण सफलता न मिल सकी। बदायूँनी ने लिखा है कि वह खुद तो दाग के लिए अपेक्षित घुड़सवार नहीं रखते थे, वरन् उनके साथी मनसबदार भी निर्धारित संख्या में घड़सवार पेश नहीं करते थे। हाज़िरी तथा निरीक्षण के समय उधार के सैनिक तथा घोड़ों को उपस्थित करा देते थे। निरीक्षण की औपचारिकता पूर्ण होने पर उनकी छुट्टी कर देते थे लेकिन जो जागीर तथा सैनिक, घोड़े, पशु रखने के लिए भत्ते मिलते थे उनका उपभोग करते रहते थे।

जात और सवार

जागीर तथा भत्ते और दायित्व के बीच अन्तर को दूर करने के लिए ही शायद जात और सवार नामक मुगल अथवा द्वैध श्रेणियाँ लागू की गईं। अबुल फज़ल के अनुसार मनसबदारों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया। एक तो वह वर्ग जो अपने मनसब की संख्या के बराबर सवार रखते थे उन्हें प्रथम कोटि में रखा जाता था। दूसरी श्रेणी उन मनसबदारों की थी जो निर्धारित संख्या से आधे या उससे कुछ अधिक सवार रखते थे। तीसरी श्रेणी में वह मनसबदार थे जो अपने मनसब से आधे या उससे कम सवार रखते थे। जात शब्द मनसबदार के व्यक्तिगत दर्जे का सूचक बन गया। जात और सवार को लेकर दीर्घकाल से विवाद बना हुआ है। डॉ० सतीश चन्द्रा के अनुसार इस विवाद का कारण था कि अकबर के काल में मनसबदारी प्रथा का जो क्रमिक विकास हुआ उसको ठीक प्रकार से नहीं समझा गया। उदाहरण के लिए 1594-95 तक जब केवल दर्जा होता था तो उसका स्वरूप भिन्न था। लेकिन जब द्वैध अथवा युगल दर्जे दिये जाने लगे तब जात का अर्थ मनसबदार का दर्जा और सवार का अर्थ उसके द्वारा कितने घोड़े, हाथी, ऊँट, खच्चर, गाड़ियाँ, सैनिक रखना अपेक्षित था। घोड़ों की किस्में जैसे इराकी, तुर्की, याबू (काबुली) और जंगला (भारतीय) स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कर दी जाती थी। इनको रखने का खर्च मनसबदार अपने जात वेतन से करता था।[2] अब्दुल अजीज मानते हैं कि उन्हें रखने का खर्च मनसबदार अपने जात वेतन से करता था। परन्तु शीरीन मूसवी ने मुतमद खाँ का उदाहरण देते हुए लिखा है कि मनसबदारों के लिये अकबर के शासन के 19वें वर्ष में कानूनी उपाय किये गये जो इस

1. सरकार, जदुनाथ, पू० उद्०, पृ० 203
2. सतीश चन्द्रा, पू० उद्०, पृ० 159

प्रकार थे, ''देहबाशी (10) से पंचहजारी (5,000) तक मनसब स्थापित किये गये और प्रत्येक के लिए वेतन नियत किया गया। इस आशय का विनियम (कायदा) आरोपित किया गया कि दाग लगाये जाने के लिए मनसबदार अपने निजी घोड़ों और हाथियों को अलग-अलग लायेंगे। यदि कोई सैनिक सिंह—अस्प (तीन घोड़ेवाला घुड़सवार) होने में समर्थ हो तो वह तीन घोड़े लायेगा, यदि दो—अस्प (दो घोड़ेवाला घुड़सवार) होने में समर्थ हो तो दो घोड़े लायेगा, यदि एक अस्प (केवल एक घोड़ेवाला घुड़सवार) होने की सामर्थ्य रखता हो तो दो घोड़े लायेगा, यदि एक—अस्प (केवल एक घोड़ेवाला घुड़सवार) होने में समर्थ हो तो दाग के लिए एक घोड़ा लायेगा। इस तरह से प्रत्येक के लिये वेतन (अलफा) नियत था।''[1]

शीरीन मूसवी लिखती हैं कि इससे स्पष्ट है कि मनसबदारों को वेतन मनसब के अनुसार मिलता था। यद्यपि सैनिकों के लिए अलग से दर निश्चित की गयी थीं। इसके अतिरिक्त मनसबदारों को अपने मनसबों के अनुसार पशुओं (हाथियों तथा घोड़ों) के अस्तबल अलग से रखने होते थे।[2] सवार का वेतन उसके द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों (1, 2, 3) तथा उनकी किस्म के आधार पर तय होता था। जिसके पास इराकी घोड़ा होता था उसका वेतन 30 रुपये मुजन्नस या ईरानी तुर्की मिश्रित नस्ल के घोड़ेवाले सवार को 25 रुपये, तुर्की घोड़े वाले को 20 रुपये और याबु (काबुली) घोड़े वाले को 18 रुपये वेतन दिया जाता था। मनसबदार को जो जागीर दी जाती थी (या उसके पास पहले जो भू क्षेत्र थे) वह उसके जात वेतन और उसके सवार दर्जे पर आधारित उसके सैन्य दल के वेतन के जोड़ के बराबर होती थी। एक रुपये में 40 दाम होते थे और सभी जागीरों के मूल्य दाम में ही आँके जाते थे इसलिए जागीर देने के प्रयोजन के लिए राजस्व का आकलन 'जमादामी' कहलाता था। मनसबदारों का वेतन उनकी कोटि के अनुसार नियत किया जाता था। प्रथम कोटि के मनसबदार 5000 वाले को जात वेतन 30,000 रुपये प्रतिमाह अथवा 3,60,000 रुपये वार्षिक था। दूसरी कोटि का वेतन 28,000 प्रतिमाह तथा तीसरे कोटि का 21,000 रुपये प्रतिमाह था। सवारों का वेतन अलग से दिया जाता था जो पहिले ही दिया जा चुका है।[3]

मनसबदारों को सम्राट को प्रति वर्ष समय-समय पर भेंट उपहार भी देने पड़ते थे। डॉ० सतीश चन्द्रा ने लिखा है कि जितना वेतन वह बादशाह से पाता था उससे कहीं ज्यादा उपहार आदि में देना पड़ता था। मनसबदारों को अपनी जागीर में

---

1. मूसवी, शीरीन, *मध्यकालीन भारत*, सं०, हबीब इरफान, राजकमल प्रकाशन, 1991, पृ० 88
2. दो—अस्पा का अर्थ है दो घोड़ेवाला घुड़सवार
   सिंह—अस्पा का अर्थ है तीन घोड़ेवाला घुड़सवार
   एक—अस्पा का अर्थ है एक घोड़ेवाला घुड़सवार
   नीम—अस्पा का अर्थ है दो सैनिकों के बीच एक घोड़ा
3. चन्द्रा, सतीश, *मध्यकालीन भारत*, पृ० 161

भू-राजस्व की वसूली के लिये नियोजित अमलों का खर्चा भी उठाना पड़ता था।[1] मोरलैंड के अनुसार यह खर्च जागीरदार के वेतन का 1/4 से ज्यादा नहीं होता था। मुगल अमीर तथा मनसबदारों के वेतन उस समय में अपेक्षाकृत बहुत अधिक थे इसलिए दूर-दूर से लोग मुगल सेवा में भर्ती होने आते थे। इतिहासकार बदायूँनी के अनुसार "ऐसा कोई दिन नहीं बीतता था जब सुयोग्य और उत्साही व्यक्तियों को मनसब न दिया जाता हो और पदासीन अमीरों को प्रोन्नत न किया जाता हो। दूसरे देशों के जैसे अरब, ईरान से आकर लोग ईरानी, अरबी सेना में ि्युक्ति पाकर अपनी अभिलाषा पूरी करते थे। अकबर के अधीन तथा बाद के बादशाहों के समय मनसबदारों की संख्या का विवरण अबुल फजल तथा निजामुद्दीन ने अपनी पुस्तकों में दिया है।"[2] अब्दुल अज़ीज़ ने 'मनसबदारी सिस्टम एण्ड मुगल आर्मी' में पृ० 108-112 पर मनसबदारों की जो तालिका दी है, वह इस प्रकार है[3]—

Rank	Number of Rank-holders	Rank	Number of Rank-holders
10,000	1 (Salim)	500	46
8,000	1 (Murad)	400	18
7,000	1 (Daniyal)	350	19
5,000	30	300	33
4,500	2	250	12
4,000	9	200	81
3,500	2	150	53
3,000	17	120	1
2,500	8	100	250
2,000	27	80	91
1,500	7	60	204
1,250	1	50	16
1,000	31	40	260
900	38	30	39
800	2	20	250
700	25	10	224
600	4		
		1,803	

1. चन्द्रा, सतीश, *मध्यकालीन भारत,* प० 161
2. अजीज, अ०, *पू० उद्०,* पृ० 108
3. *वही,* पृ० 109

ब्लोचमैन ने मनसबदारीकी जो तालिका दी है उसमें अकबर के शासन के अन्तिम वर्ष तथा जहाँगीर के शासन के प्रमुख मनसबदारों की तालिका दी है उसके प्रमुख अंश इस प्रकार हैं[1]—

Rank	Number of Rank-holders	Rank	Number of Rank-holders
5,000	8	300	72
4,500	9	250	85
4,000	25	200	150
3,500	30	150	242
3,000	36	100	300
2,500	42	80	245
2,000	45	60	397
1,500	51	40	298
1,000	55	30	240
700	58	20	232
500	80	10	110
400	73	4	741
350	58	3	1,322
		2	1,428
		1	950

अकबर के समय मनसबदारों को दिया जाने वाला अधिकतम मनसब 12,000 था लेकिन जहाँगीर के समय यह मनसब 40,000 तक पहुँच गया जैसे शहजादा परवेज 40,000 का मनसबदार था। शहजादा खुर्रम 20 से 30 हजार शहरयार 8 से 12 हजार का मनसबदार था। इसी तरह शाहजहाँ के शासन काल में मनसबदारी की संख्या में परिवर्तन हुआ। दाराशिकोह जो प्रारम्भ में 9 हजार का मनसबदार था शाहजहाँ के शासन काल के तीसरे दशक में 60 हजार का मनसबदार हो गया। शाहशूजा ने 7 हजार से प्रारम्भ कर शाहजहाँ के शासन के तीसरे दशक में 20 हजार का मनसब प्राप्त कर लिया। औरंगजेब ने भी 7 हजार के मनसब से प्रारम्भ कर 20 हजार का मनसब प्राप्त किया था। मुरादबख्श का मनसब शाहजहाँ के शासन काल में दूसरे दशक में 9 हजार था जो तीसरे दशक में बढ़कर 15 हजार हो गया। इस तरह शहजादों को अधिक मनसब देने की प्रथा प्रारम्भ हो गयी। औरंगजेब ने भी शहजादों को ऊँचे मनसब प्रदान किए। मोहम्मद मुअज़्ज़म शाह आलम को 40 हजार का

1. अज़ीज़, अ०, *दी मनसबदारी सिस्टम एण्ड दी मुगल आर्मी,* पृ० 111-112

मनसब, मोहम्मद कामबख्श को 40 हजार का मनसब, मोहम्मद सुल्तान को 20 हजार का मनसब, मोहम्मद आज़म को 20 हजार तथा मोहम्मद अकबर को 10 हजार का मनसब प्रदान किया। इसी तरह शहजादों के पुत्रों को ऊँचे मनसब दिए गए। इन मनसबों के अनुसार ही उनकी तनख्वाह भी बहुत ऊँची तय की गयीं जो 83 करोड़ से 40 करोड़ आय की जागीर के समान थीं। इनके जात और सवार भी इन्हीं मनसब के अनुसार तय किये गये जिसका उल्लेख ब्लोचमैन ने किया है।[1]

मनसबदारी व्यवस्था के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मुगल सेवा एक ही संवर्ग था। प्रारम्भ में उसमें संख्यात्मक पद दिए जाते थे। बाद में दाग-प्रथा के प्रारम्भ होने पर मुगल पद (जात तथा सवार) दिए जाने लगे। यह व्यवस्था सेना में नियम अनुशासन और योग्यता बढ़ाने के उद्देश्य से की गई जिसका अर्थव्यवस्था से निकट का सम्बन्ध था। अकबर के बादशाह बनने से पहले ही मुगल कर्मचारियों के पास भू-क्षेत्र (जागीरें) थीं इसलिये जागीरों की आय और सैनिक वेतन का नियमन करने के लिये मनसबदारी जैसे श्रम-साध्य व्यवस्था की गई जो एक सैनिक और वित्तीय व्यवस्था कही जा सकती है।

अकबर के बाद मनसबदारी व्यवस्था

जहाँगीर के काल में मनसबदारी व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हो गया था। 'सवार' पद में 'दो-अस्पा' (दो घोड़े) तथा 'सिंह-अस्पा' (एक सवार तीन घोड़े) की व्यवस्था की गई थी। अकबर के समय यह नियम बनाया गया था कि किसी मनसबदार का 'सवार' पद उसके 'जात' पद से अधिक नहीं हो सकता। सर्वोच्च पद 5000/5000 जात व सवार का होगा। मनसबदार से खुश होने पर यदि बादशाह उसकी पद प्रतिष्ठा में वृद्धि कर सकता है तो केवल 'दो अस्पा' तथा 'सिंह-अस्पा' के द्वारा ही कर सकता था। 'जात' पद में वृद्धि नहीं हो सकती थी इसलिये 'दु-अस्पा', 'सिंह-अस्पा' द्वारा उसके सवार पद में वृद्धि करके उसे पुरस्कृत किया जा सकता था। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि सवारों की संख्या पर ही किसी मनसबदार की श्रेणी तथा प्रतिष्ठा निर्भर करती थी।[2] इस सैनिक व्यवस्था के लिए अलग से धन दिया जाता था। उदाहरण के तौर पर अगर किसी मनसबदार को 5000/5000 'जात' व 'सवार' का पद मिला होता था और उसका वेतन 8000 दाम होता था तो उसे सवार पद में 'दु-अस्पा' 'सिंह-अस्पा' होने की दशा में उसे 2000 × 8000 × 3000 + 16000 धन दिया जाता था। उस मनसबदार के घुड़सवारों की संख्या भी वास्तव में 8000 होती थी।[3]

---

1. अज़ीज़, अ० *दी मनसबदारी सिस्टम एण्ड दी मुगल आर्मी*, पृ० 130-143
2. त्रिवेदी, के०के० वर्मा ह० (सं०), पृ० 118
3. *वही*

जहाँगीर के समय 500 जात पद के अधिकारियों में वृद्धि हुई। शाहजहाँ ने मनसबों का पद 5000 से बढ़ाकर 10000 तथा 20000 तक कर दिया। शाहजहाँ के शासन काल में इस व्यवस्था में व्यापक सुधार करने के लिए संशोधन करने की आवश्यकता हुई। अकबर के शासन काल में इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित कराया गया था कि जागीर की अनुमानित आय (जमा) तथा वास्तविक आय में अन्तर होता था। जागीरदार जागीरों से प्राप्त आय के कम होने की बराबर शिकायत करते थे। जिसके कारण सैनिकों, घुड़सवारों आदि अधीनस्थ कर्मचारियों का वेतन मनसबदारों को अपने व्यक्तिगत वेतन से भुगतान करना पड़ता था। शाहजहाँ ने जागीरों की आय का मासिक आकलन शुरू करवाया। जिस जागीर से अनुमानित आय से केवल 50 प्रतिशत वसूली होती थी उसे शिशमाहा जागीर माना जाता था। जिस जागीर से वास्तविक वसूली 1/4 होती थी उसे सीमाही माना जाता था। मनसबदारों के दायित्वों का निर्धारण शाहजहाँ ने शिशमाह तथा सीमाही के आधार पर करने का प्रयत्न किया।[1]

शाहजहाँ के इस सुधार की मीमांसा करते हुए डॉ० के०के० त्रिवेदी ने लिखा है कि शाहजहाँ का यह कदम बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण था। वह जागीरों से प्राप्त होने वाली वास्तविक आय (महसूल) अर्थात् राजस्व वसूली में होने वाली कमी को आधार बनाकर मनसबदारों के 'जात' या 'सवार' पद में कमी करता तो इससे मनसबदारों में असन्तोष फैलने की सम्भावना थी। यह इसके आधार पर भी की गई कटौती को अपनी अवनति मानते। सैनिक दायित्वों की माहाना जागीर के माध्यम से मनसबदार की आय तथा सवारों से संबद्ध उनके दायित्वों में कटौती तो अवश्य हुई किन्तु इससे उनके 'जात' व 'सवार' पद की गरिमा अक्षुण्ण बनी रही। शाहजहाँ ने इस तथ्य को भी ध्यान में रखा कि मनसबदार अपनी जागीर के समीप स्थित है या उससे दूर और उसी आधार पर 'सवार' पद में एक तिहाई और एक चौथाई का अनुपात तय किया। इस प्रक्रिया को इस तरह समझा जा सकता है कि किसी मनसबदार की जागीर उत्तरी भारत में है तथा उसकी नियुक्ति भी उत्तर भारत में ही है तो उसको अपने सवार पद में उल्लिखित संख्या के 1/4 घुड़सवार रखने होंगे। अगर किसी मनसबदार की नियुक्ति दक्षिण में होती है तो उस दशा में सैनिक दायित्व 1/4 के अनुपात में रहेगा। सैन्य अभियान के लिये यदि मनसबदारों को उत्तर-पश्चिमी (बल्ख, बदख्शां) में तैनात किया जाये तो उल्लिखित सैनिकों की सुख्या का 1/5 उन्हें रखना होगा। शाहजहाँ ने इस कठिनाई को समझा कि जागीर से दूर रहने पर जागीर से राजस्व की वसूली में कमी हो जाती थी और मनसबदारों के लिए वसूली के समय जागीर में लौटना सम्भव नहीं था। अतः उसने इस कठिनाई को ध्यान में रखकर मनसबदारी में आवश्यक परिवर्तन किया।[2]

1. त्रिवेदी, के०के०, वर्मा, ह० (सं०), पू० उद्०, पृ० 118
2. *वही*

शाहजहाँ ने मनसबदारी क्षेत्र में जो सुधार और परिवर्तन किये थे उन्हें औरंगज़ेब ने मान्य रखा। इस समय अधिकांश मनसबदारों को दुअस्पा, सिंह अस्पा पद प्रदान किया गया था। सक्षम मनसबदारों की जब महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्ति की जाती थी—जैसे फौजदार या किलेदार तब उसके सवार पद में वृद्धि करने के लिए एक अन्य माध्यम निकाला गया जिसे मशरूत (Conditional) कहते थे। अपने उत्तरदायित्व को ठीक से निभाने के लिये बादशाह के आदेशानुसार सवारों में वृद्धि करने का अधिकार मनसबदार को था। निर्धारित कार्य पूरा होने के बाद मशरूत पद वापस ले लिया जाता था। मशरूत पद के अन्तर्गत भरती किये जाने वाले घुड़सवारों को वेतन सामान्य सवारों के समान ही था।[1]

मुगल बादशाहों ने शाही सेना का विस्तार किया। जिससे मनसबदारों की सेना पर नियन्त्रण रखा जा सके। लेकिन जो इससे आर्थिक बोझ बढ़ा उसकी भरपाई मनसबदारों के वेतन से 'खुराके फीलान' (हाथियों की खुराक का खर्च) तथा 'इरमास' (घोड़े खरीदने का खर्च) के मद में किया गया।

मनसबदारी प्रथा की प्रमुख विशेषताएँ

मनसबदारी प्रथा की प्रमुख विशेषता सेना की भर्ती की कारगर व्यवस्था करना था। अब्दुल अज़ीज़ के अनुसार मुगल मनसबदारी व्यवस्था प्राचीन जनजातीय मुखिया से समझौता तथा मध्यकालीन सामन्तों पर सेना की भर्ती का दायित्व लादना जैसा था।[2] कुछ मुखियाओं पर यह दायित्व लादा गया और मुखिया अपनी नस्ल और जाति के अनुरूप सैनिक भर्ती करने लगे। इस तरह यह उपरोक्त दोनों विधाओं के विकास तथा उससे हटकर एक नयी व्यवस्था थी जिसमें दोनों का समावेश भी था और उनसे भिन्न थीं। सेना की भक्ति अपने मुखिया के प्रति थी और मुखिया बादशाह के प्रति भक्त था। मुगल बादशाह बगैर आर्थिक बोझ, सैन्य शक्ति के बनाने तथा उसके रख-रखाव, अनुशासन, ट्रेनिंग, शस्त्र आदि जुटाने की जहमत से बच गया। यह मनसबदार इतने बड़े नहीं थे कि उनसे बादशाहत को कोई खतरा पैदा हो।[3]

मनसबदारी प्रथा का एक लाभ यह भी था कि सभी सरकारीपद मनसबदारी के अन्तर्गत थे। मनसबदारों की नियुक्ति के समय दी गई जागीर उनके क्षेत्रों में ही थीं इसलिए सैनिक तथा प्रशासनिक कार्यों में वह सहायक हो गये।[4]

मनसबदारी प्रथा ने सेना का समुचित प्रयोग किया। बर्नियर ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मुगल बादशाहों ने राजपूत सेनाओं का प्रयोग एक-दूसरे से युद्ध

1. त्रिवेदी, के०के०, वर्मा, ह०सं०, *पू० उद्०*, पृ० 118
2. अज़ीज़, अ०, *पू० उद्०*, पृ० 168-169
3. *वही*, पृ० 169
4. *वही*

करने में किया जैसे मेवाड़ से युद्ध करने के लिए राजा मानसिंह को सेना की कमान सौंपी। "It is the King's policy, to foment jealously and discord amongst Rajas, and by caressing and favouring some more than others, he often succeeds, when desirous of doing so, in kindling wars among them."[1] यही नहीं इस सेना का उपयोग बादशाहों ने उमराओं और समधर्मी सुल्तानों जैसे गोलकुंडा और बीजापुर आदि पर चढ़ाई करने में किया। मुस्लिम सैनिक इमाम और खलीफा के अनुयायियों पर तलवार चलाना हराम मानते थे। उदाहरण के तौर पर मंगोलों ने पठानों को सेना में इसलिये भर्ती किया था जिससे समधर्मियों पर तलवार न उठानी पड़े। यही उदाहरण मुगलों ने भी प्रस्तुत किया।

मनसबदारी व्यवस्था से एक कुशल, अनुशासित, स्वामिभक्त सेना मुगल बादशाहों को प्राप्त हो गईं। जागीर से प्राप्त जमा और हासिल तथा जात और सवार पद से उनकी प्रोन्नति तथा अवनति बादशाह के हाथ में होने के कारण मनसबदार सदैव बादशाह की दया पर आश्रित हो गये।[2]

सेना में भर्ती की पद्धति ने जनजातीय स्वामिभक्ति को क्षेत्रीय स्वामिभक्ति में बदल दिया। सैनिकों को दु:साहसी बना दिया। "The ideal of tribal honour must have appealed where there was no national unity to look to."[3]

मनसबदारी सैन्य व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह हो गया कि सेना का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं बना। मुगल सेना राष्ट्रीय सेना में कोई समरूपता स्थापित नहीं हो सकी। अलग-अलग सैनिक टुकड़ियाँ दक्षता और कार्यकुशलता में भिन्न-भिन्न थी। इन टुकड़ियों को जोड़ने वाला कोई तत्त्व मौजूद नहीं था। यह मुगल बादशाह के लिए एक सकारात्मक पक्ष था परन्तु सैनिक दक्षता की दृष्टि से नकारात्मक था। इन मनसबदारों ने एक शाही जागीरदारों को ऐसी श्रेणी खड़ी कर दी जिसके पास धन, जागीर और शक्ति सिमट गयीं। मुगल साम्राज्य की जो कभी ताकत थी वही कालान्तर में उसकी कमजोरी बन गयीं। डॉ० जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "It was fatal defect of Mughal rule that it always continued to bear the character of a military occupation of the land and did not try to build up a nation or homogenous state."[4]

1. अज़ीज़, अ०, पू० उद्०, पृ० 168-170
2. *वही*
3. *वही*
4. सरकार, जे०एन०, पू० उद्०, पृ० 243

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मनसबदारी एक प्रशासनिक व्यवस्था थी जिसका उद्देश्य सेना में सुधार करना, नियमितता तथा अनुशासन स्थापित करना था। विभिन्न स्तर के अमीर और जागीरदारों भू-क्षेत्रों के स्वामियों को सरकारी नियन्त्रण में लाना था। साम्राज्य के विस्तृत भू-भागों को जीतने उनमें शान्ति-व्यवस्था कायम करने तथा लगान वसूल करने और वाणिज्य-व्यापार की सुरक्षा एवं वृद्धि, निर्माण कार्य, जनहित के कार्य तथा प्रशासनिक ढाँचे को कार्य रूप में परिणित करने के लिये सैन्य संगठन का पुर्नगठन आवश्यक था। इसी सैन्य संगठन को व्यवस्थित करने के लिए मनसबदारी व्यवस्था को प्रारम्भ किया गया। मुगल प्रशासन की कार्य कुशलता इसी पर आधारित थी।

अष्टम अध्याय

मुगलकालीन भू-राजस्व व्यवस्था

मुगल साम्राज्य की आय के स्रोत इस्लामिक कर प्रणाली के आधार पर खम्स, जाज़िया, ज़कात, खिराज थे इसके अतिरिक्त राज्य की आय के कुछ अतिरिक्त साधन भी थे जो इस्लामिक कर प्रणाली से भिन्न थे। आय के साधन दो भागों में Direct Tax प्रत्यक्ष कर तथा अप्रत्यक्ष कर Indirect Tax में विभाजित थे। प्रत्यक्ष कर में भूमि से होने वाली आय मुख्य स्रोत था। अमीरों और मनसबदारों के वेतन से आयकरं काटा जाता था। यह कर 10 से 25 प्रतिशत होता था। इसलिए डॉ० एस०आर० शर्मा ने लिखा है कि लगान से कितनी वसूली होती थी का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है।

प्रत्यक्ष कर

अधीनस्थ राजा, सामन्त, अमीर आदि समय-समय पर बादशाह को नजराना देते थे। दक्षिण और गुजरात के राजकुमार जो धन मुगल राजकोष में भेजते थे वह मुख्यत: उनकी आय का भाग (कर) होता था। यह भी व्यवस्था थी कि बहुत से सामन्त धन के स्थान पर शाही सेवा में सैनिक टुकड़ियाँ प्रदान करते थे। इन सैनिक टुकड़ियों का आकलन वेतन के रूप में (आयकर) कर लिया जाता था। Skilled कुशल श्रमिक तथा Unskilled अकुशल मजदूरों को निर्धारित वेतन से कम मजदूरी देकर जो बेगार कराई जाती थी वह भी कर का एक रूप था। कुछ पेशे और व्यापार करने के लिए लाइसेंस शुल्क लगाया जाता था। समय-समय पर Capitation प्रति व्यक्ति कर भी उगाहने का उल्लेख है। गन्ना पेरने वाले और कपड़ा बुनने वाले एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर काम करते थे जिन्हें 1 1/2 रुपया प्रत्येक स्थान पर कार्य करने के लिये लाइसेंस शुल्क देना होता था। बढ़ई, शिल्पी, बुनकर, रंगरेज, नर्तक, नर्तकी, मध्यस्थों, चक्की पर काम करने वाले, फेरी वाले, चरागाह में मवेशी चराने वाले, मछुआरे, गायक, नाविक आदि पेशों पर कर लगता था। अकबर ने इनमें से कुछ पेशों पर कर हटा दिया था। लेकिन फिर भी प्रत्यक्ष कर मुगल सरकार की आय का बड़ा साधन थे जिनका भार उपभोक्ताओं पर नहीं डाला जाता था।[1]

---

1. शर्मा, आर०एस०, पू० उद्०, पृ० 57-58

अप्रत्यक्ष कर

अप्रत्यक्ष कर कई प्रकार के थे जिसमें आयात व निर्यात कर प्रमुख थे। यह कर वस्तुओं के निर्णय तथा आगम स्थान पर लिए जाते थे। समुद्री व्यापार पर सूरत, लाहरी, बन्दर, बालासोर बन्दरगाहों पर आयत कर लिया जाता था। नेपाल, सिक्किम तथा भूटान से आने वाले सामान पर गोरखपुर में कर लिया जाता था। कन्धार से आने वाले माल पर मुल्तान में तथा मध्य एशिया से आने वाले सामान पर काबुल में आयात शुल्क वसूला जाता था। कश्मीर तथा कुल्लू से आने वाले माल पर श्रीनगर तथा बसवाड़ा में शुल्क लिया जाता था। उड़ीसा से आने वाले माल पर पुरी में आयात शुल्क लिया जाता था। समकालीन विदेशी यात्रियों ने लिखा है कि सीमा शुल्क अधिकारी बड़े सख्त थे। आने वाले प्रत्येक व्यक्ति और उसके सामान की तलाशी ली जाती थी। सामान्यत: आयात कर 2 1/2 प्रतिशत था। यूरोपीय व्यापारियों से Brokerage दलाली एक प्रतिशत अलग से ली जाती थी। औरंगजेब के समय हिन्दू व्यापारियों से पाँच प्रतिशत मुस्लिम व्यापारियों से 2 1/2 प्रतिशत तथा यूरोपीय व्यापारियों से चार प्रतिशत शुल्क लिया जाता था। कुछ सामानों पर कर की मद 25 प्रतिशत थी जैसे पर्शियन घोड़े, कस्तूरी आदि। मस्कट से आने वाले सामान पर शुल्क 10 प्रतिशत था।

सामान के परिवहन तथा सुरक्षा के लिए राहदारी कर लिया जाता था। यह शुल्क साधारणतया अधिक नहीं होता था। अकबर और औरंगजेब ने इसे बन्द करने का आदेश दिया था। फिर भी मुगल शासन में वह विभिन्न क्षेत्रों में वसूल किया जाता रहा। जून 1695 के मथुरा सरकार के रिकार्ड में इनका जिक्र मिलता है। 1688 ई० में दक्षिण और आगरा के मध्य राहदारी शुल्क सभी सामान पर एक व्यापारी को 350 रुपया एक बार देना पड़ता था। अंग्रेज व्यापारियों ने लिखा है कि 230 ऊँटों के भार के माल पर 2,500 रुपये राहदारी शुल्क देना पड़ता था। कभी-कभी प्रति गाड़ी या ऊँट के हिसाब से राहदारी निश्चित की जाती थी। माल के वजन से राहदारी तय करने का भी वर्णन है। अबुल फजल ने लिखा है कि कभी-कभी राहदारी वस्तु के मूल्य से ज्यादा हो जाती थी।[1] नदी पार करने पर उतराई कर देना होता था। नगरों में प्रवेश के समय चुंगी दी जाती थी। चुंगी वसूल करने का कार्य दीवान या फौजदार के अभिकर्ता (Agent) करते थे। चुंगी से होने वाली आय करीब 2 लाख रुपये से अधिक थी। औरंगजेब ने यह शिकायत की थी कि जितनी चुंगी वसूल की जाती थी उसका 1/8 भाग ही खजाने में जमा किया जा रहा था। उसने इस पर चिन्ता व्यक्त की थी। काँच, साबुन, चमड़ा, नील, शराब, (चीनी) गुड़, लाख, hemp चूना,

1. शर्मा, आर०एस०, पू० उद्०, पृ० 60

तेल, तम्बाकू, ऊन, मादक द्रव्य, गन्ध द्रव्य, मांस पदार्थ इत्यादि के उत्पादन पर excise देनी पड़ती थी जो कभी-कभी 10 प्रतिशत तक हो जाती थी।

Sales Tax बिक्री कर अप्रत्यक्ष कर का दूसरा महत्त्वपूर्ण मद था। शहरों में बाजारों में सामान के विक्रय पर निश्चित कर लिया जाता था। सामान जब पहली बार विक्रय होता था तभी कर देना पड़ता था। 55 रुपये से कम मूल्य की वस्तुएँ विक्रय कर से मुक्त थीं। कपड़ा, नील, धागा, रंग, नमक, अदरक, पान, डेरी उत्पाद, चीनी मिट्टी के (Dairy products pottery) बर्तन, लकड़ी तथा चमड़े का सामान, ईंट, घर, नमक का तेजाब, शोरा, हथियार, पुस्तकों, हाथी दाँत, घोड़े इत्यादि पर विक्रय कर लगता था। यह कर 1/2 प्रतिशत से 2 1/2 प्रतिशत था। गुजरात में विक्रय कर बढ़ाने का उल्लेख मीरात-ए-अहमदी में मिलता है। अहमदाबाद के मुकद्दम ने सूती वस्त्रों पर 3/4 प्रतिशत कर अपनी सेवा के लिए बढ़ा दिया था। चाँदी पर विक्रय कर 1, 54, 362 1/2 रुपये तथा रत्नों और हाथी दाँत पर 2,500 रुपये वसूल किया था।[1]

मुगल कारखाना

मध्ययुग में कारखाना शब्द वस्तुओं के निर्माण के संगठनों तथा शाही प्रतिष्ठानों के लिये प्रयुक्त किया जाता था। जहाँ उत्पादन कार्य होता वही कारखाना था। मुगल शासकों के शाही कारखाने थे जिसमें शहरी उपयोग की वस्तुओं तथा बाहर विक्रय करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन होता था। कारखानों में हथियार, बारुद, युद्ध सामग्री, तम्बू, कपड़े, शृंगार का सामान, इत्र फुलेल, दवाई, आभूषण, चाँदी-सोने तथा विभिन्न पत्थरों के बर्तन, शाल-दुशाले, पगड़ी, लोहे, ताँबे की वस्तुएँ आदि बनाई जाती थीं।[2] इन कारखानों को तोपखाना, जीनखाना, नक्कारखाना, फीलखाना, गोखाना (गायों के लिए) अस्तबलखाना, पालकीखाना, रथखाना, फर्शखाना, बावर्चीखाना, अबदारखाना इत्यादि कहा जाता था। ये कारखाने पूरे साम्राज्य में फैले हुए थे। अकबर के समय इनकी संख्या सौ के करीब थी। इन कारखानों में उत्पादित सामान को जब विभिन्न विभागों में भेजा जाता था तो उन पर बाजार भाव से मूल्य तय किया जाता था और उससे होने वाली आय कारखाने की आय में जोड़ दी जाती थी।[3] कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर सरकार का एकाधिकार था जैसे नमक, पान, मादक द्रव्य, जवाहरात की खानें, शोरा मोम, ताड़ी तथा हाथी आदि। इन वस्तुओं के विक्रय से सरकार के खजाने में बहुत अधिक धन जमा होता था। मनरीक (Manrique) ने लिखा है कि अकेले ढाका में पान से प्रतिदिन

---

1. शर्मा, आर०एस०, पू० उद्०, पृ० 62
2. *वही*
3. *वही*

4,000 रुपये की आय होती थी। ताड़ी से सूरत में 12000 महमूदी तथा हैदराबाद में 1,900 हुन की आय थी। बाट-माप पर सरकारी (Stamping) मोहर लगाने का शुल्क लगता था।

मुगल कारखानों का प्रबन्धन

मध्ययुगीन इतिहासकारों ने कारखाना शब्द को व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया है। मुगलों ने इसके लिए 'बयूतात' शब्द का प्रयोग किया है। बयूतात अरबी भाषा का शब्द है जो बैत का द्विवचन। बहुवचन है जिसका अर्थ है घर। मुगल प्रशासकों के लिये वयूतात का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट था। उन्होंने वयूतात नामक अलग विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग का कार्य उन सभी कार्यशालाओं का रखरखाव करना था जिनमें सरकारी या शाही उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन और भंडारण होता था। यह विभाग न केवल सब प्रकार की वस्तुओं को खरीदता, बेचता, भंडारण करता था वरन् युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र एवं विलास सामग्री के निर्माण का सबसे बड़ा अभिकरण भी था।[1] वयूतात का स्वामी सरकार थी। उसका प्रबंध भी राज्य के हाथों में था। लेकिन इन कार्यशालाओं को पूर्णतः व्यापारिक ढंग से संचालित किया जाता था। डॉ० के०एम० अशरफ का विचार है कि कारखानों की व्यवस्था कदाचित फारस से ली गई होगी। मिस्र में भी कारखानों की परम्परा दिखाई देती है। मिस्र में सरकारी उद्योग तथा व्यक्तिगत उद्योगों में स्पष्ट अन्तर था।

मध्ययुग में कुटीर उद्योग बड़े स्तर पर उत्पादन करके सरकारी मांग की आपूर्ति नहीं कर सकते थे। अतः सरकार के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था कि वह अपनी कार्यशालाएँ बनायें जहाँ कारीगरों को नियुक्त कर कच्चा माल उपलब्ध कराकर अपनी आवश्यकता अनुरूप वस्तुएं निर्मित कराए। मुगल बादशाह वर्ष में दो बार अपने मनसबदारों को पोशाक प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त खिल्लत की पोशाक देता था। इसके लिए बड़ी मात्रा में कपड़ा, कसीदाकारी आदि की आवश्यकता पड़ती थी। इसके लिये कच्चे माल से भंडारण तक का कार्य वयुतात करता था। मुगल बादशाह इन कारखानों में व्यक्तिगत रूचि रखते थे। जिसके कारण यह कारखाने पूरे देश में हस्तशिल्प के उत्तम उत्पादन केन्द्र बन गये। अबुल फज़ल ने लिखा है कि बादशाह तरह-तरह की चीज़ों पर बहुत ध्यान देते हैं। कुशल विशेषज्ञों और कारीगरों को देश में बसाया गया ताकि वह कारखाने के कारीगरों को उत्पादन के विकसित तरीके तथा अन्य देशों में बनने वाली कारीगरी को सीख सकें। कारीगरों की देखभाल अच्छी तरह से की जाती थी। कारीगरों के प्रशिक्षण का परिणाम यह हुआ कि यहाँ के चतुर कारीगर शीघ्र ही ऐसा सामान बनाने लगे जो विश्व के भिन्न-भिन्न

1. वर्मा, तृप्ता, संकलित वर्मा, *मध्यकालीन भारत*, खण्ड 2, पृ० 340

स्थानों पर बनता था। फादर मानसरेट ने भी इसका उल्लेख किया है। अकबर स्वयं कारीगरों के काम का निरीक्षण किया करता था और कुशल कारीगरों को पुरस्कार देता था। जहांगीर बादशाह ने दंदान-ए-माही (मछली के दाँत) की मूढ की छूरी बनाने वाले कारीगर को पुरस्कृत किया था।[1] जहांगीर ने सौ तौले उल्का पत्थर और सामान्य लोहे के मिश्रण से ऐसी तलवार तैयार करवाई थी जो सर्वोत्तम पानीदार तलवार का मुकाबला कर सकती थी। शाहजहां के काल में लाहौर और कश्मीर में ऊनी कालीन उद्योग ने इतनी कुशलता प्राप्त कर ली थी कि ईरान के कालीन उनके सामने टाट जैसे लगते थे। जिनका दाम 100 रूपये प्रति गज था।

प्रान्तों में सूबेदारों ने अपने अलग-अलग कारखाने स्थापित कर रखे थे। दक्षिण के सुल्तानों, गोलकुंडा, खानदेश अहमदनगर, बीजापुर आदि के अपने कारखाने थे। बनारस के राजा का अपना कारखाना था। यूरोपिय यात्रियों ने अपने यात्रा वर्णन में इन व्यक्तिगत तथा सरकारी कारखानों का उल्लेख किया है जो कुटीर उद्योग से भिन्न थे। बर्नियर ने मुगल कारखानों का वर्णन करते हुए लिखा है उन्होंने कि गढ़ी के अन्दर बड़े-बड़े कमरे देखे जिन्हें कारखाना या कार्यशाला कहा जाता था। एक उस्ताद की निगरानी में कारीगर काम करने में लगे रहते थे। अलग-अलग कमरों में भिन्न-भिन्न प्रकार का काम होता रहता था जैसे सोने का काम, चित्रकारी लाख पर पालिश, कलाबत्तू, जरीदार कमरबंद तथा पगड़िया, बारीक मलमल, दर्जी, मोची तथा कढ़ाई करने वाले आदि काम करते थे। यह कारीगर सुबह आते और शाम को घर चले जाते थे। यह कारीगर अपने व्यवसाय के लोगों से ही विवाह सम्बन्ध स्थापित करते थे हिन्दू और मुसलमान दोनों में यही प्रचलित था। कारीगर अनुवांशिक तौर पर अपने बेटे को अपनी कारीगरी का प्रशिक्षण देता था। जिससे पुश्त दर पुश्त उन्होंने खास कारीगरी में विलक्षण योग्यता प्राप्त कर ली थी। यह कारखाने प्रशिक्षण संस्था का भी काम करते थे। यही कारण है कि मुगल साम्राज्य के पतन के बाद जब कारखाने बंद हो गये तो कारीगरी बच रही और उत्पादन का कार्य चलता रहा।

इन कारखानों का कार्य देखने के लिए वयूतात नामक विभाग था जिसका कार्य दीवान-ए-वयूतात देखता था। यह इस विभाग का वित्तीय दायित्व सम्हालता था। इसकी सहायता के लिए अन्य कर्मचारी इस प्रकार थे; एक लेखपाल जिसे मुशरिफ-ए-कुल-ओ-जुज तथा दरोगा (कारीगरों को प्रतिदिन काम बाँटता था), तहसीलदार (आवश्यक माल और रोकड़ का प्रभारी), (मुस्तौफी लेखा परीक्षक) जो व्यय का मिलान करके वक्तव्य तैयार कर दीवान के समक्ष प्रस्तुत करता था और अंत में उस

1. *वही*, पृ० 342-43

पर मीर-सामान की मोहर लगवाता था; दरोगा-ए-कचहरी परकार्यालय की सामान्य पर देखरेख का भार था; वह यह भी देखता था कि कर्मचारी आपत्तिजनक व्यवहार न करें। वह संबंधित अधिकारी का द्वारों पर मुहर लगवाने के बाद अपनी मुहर लगाता था। वह यह भी सुनिश्चित करता था कि (रजिस्टर) पंजिका कागज एक अधिकारी से दूसरे के पास नियत समय पहुँच जाये; नज़ीरा—यह पुनरीक्षण अधिकारी था जो यह देखभाल करता था कि काम निर्धारित मानदण्ड तथा कुशलता के साथ हो। जहांगीर और शाहजहां के काल में नज़ीरा का उल्लेख नहीं मिलता।[1] उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुगल कारखानों के प्रबंधन के लिए एक स्पष्ट व्यवस्था थी जो मीर-सामान कें अन्तर्गत कार्य करती थी। जिसका पूरा उत्तरदायित्व दीवान-ए-वयूतात अपने विभाग के कर्मचारियों की सहायता से करता था। कच्चा माल, कारीगरों से लेकर तैयार माल के भंडारण, वितरण, बिक्री, आयात-निर्यात, बादशाहों की रूचियों और आवश्यकताओं के अनुरूप माल तैयार कराना उसका दायित्व था।

शाही कारखानों में कारीगर बड़ी लगन व निष्ठा से काम करते थे जिससे बादशाह से इनाम तथा प्रशंसा प्राप्त कर सकें। कारीगर सरकारी कारखानों में नौकरी पाने को लालायित रहते थे क्योंकि व्यक्तिगत तौर पर कारीगरी का माल तैयार करना उनके बूते के बाहर था। इन कारखानों में कारीगरों के लिये स्थितियाँ बादशाह की व्यक्तिगत रुचि लेने के कारण अनुकूल थी। बादशाह कला मर्मज्ञ थे और कारीगरी को प्रोत्साहित करते थे और श्रेष्ठ कारीगरों को पुरस्कार देकर सम्मानित करते थे। शाही कारखाने प्रतिभा का प्रसार करने एवं देश का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठाने में सहायक हुई जिससे भारतीय कला संसार भर में आकर्षण का केन्द्र बन सकी।

युद्ध से आय

युद्ध में जो खर्च होता उसका कुछ भाग विजित प्रदेश के राजा पर युद्ध का हर्जाना लगाकर पूरा किया जाता था। इसके अतिरिक्त विजित प्रदेश से लूटा गया माल, फसल, राजकीय आय के साधन थे। खजाना, माल के अतिरिक्त सेना व युद्ध के सामान भी सरकारी आय का स्रोत था। बाद में विजित क्षेत्र से होने वाली आय सरकारी आय की वृद्धि का साधन थी।

सम्पत्ति जब्ती

जिस सम्पत्ति का कोई वारिस नहीं होता था उसकी पहले जाँच-पड़ताल की जाती थी फिर वारिसान न होने पर वह सम्पत्ति सरकार ले लेती थी। इसके लिये एक अलग खंजाची था जिसे बेतुलमाल कहते थे। मुगल काल में उमराओं द्वारा

1. *वही*, पृ० 344-346

एकत्रित सम्पत्ति सम्राट की समझी जाती थी। उनकी मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो जाता था इसे जब्त सम्पत्ति Escheated Properties कहा जाता था।[1] डॉ० जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि उमराओं पर इतना धन अग्रिम अथवा बकाया रहता था कि उनकी मृत्यु के बाद सम्पत्ति से उसका भुगतान लिया जाता था।[2] डॉ० फारूखी ने लिखा है कि उनकी सम्पत्ति देय ऋण से काफी कम रहती थी। कुछ उमरा बहुत अधिक सम्पत्ति छोड़कर अल्ला को प्यारे हो गये उनमें एक अलीमर्दान था जो 1651 में एक करोड़ की सम्पत्ति छोड़कर मरा था। उस पर सरकार का अधिकार हो गया। टूटे जहाजों की सम्पत्ति, गड़ा धन सभी सरकारी खजाने में जमा किया जाता था।

पेशकश और नज़र

भेंट-उपहार मुगल सरकार की आय का साधन थे। स्वतन्त्र तथा अर्धस्वतन्त्र भारतीय राजा, नवाब सरकारी लाभ प्राप्त करने की आकांक्षा से स्वयं उपस्थित होकर अथवा अपने नुमाइदों के द्वारा बादशाह को उपहार आदि भेंट करते थे। सरकारी कर्मचारी बादशाह के जन्म दिन, सिंहासनारोहण, नववर्ष, ईद, बकरीद तथा अन्य उत्सवों पर उपहार देते थे। यूरोपीय व्यापारी तथा अन्य व्यापारी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिये दरबार में उपस्थित होकर उपहार आदि देते थे। उपहार में धन तथा बहुमूल्य रत्न, अद्‌भुत वस्तुएँ बहुमूल्य वस्तुएँ दी जाती थी। बादशाह जहाँगीर को उसके गद्दी पर बैठने के वार्षिक उत्सव पर साढ़े-दस लाख रुपया, पैंतालिस घोड़े तथा 1 हाथी मिले थे। औरंगजेब को एक बार सोने का सिंहासन तथा एक अन्य समय पर 50,00,000 के मूल्य के उपहार दिये गये।[3] मुगल बादशाहों के दरबार में ईरानी, तुर्की, बल्ख, बदख्शां काशगर, तुरान (ईराक) मक्का, बोखारा, अरब राज्यों के दूत आते थे। ये दूत मुगल बादशाह के लिए तरह-तरह की वस्तुएँ लाते थे।[4] जहाँगीरनामा में ईरानी दूतों द्वारा किए गये ऊँट, हीरे, जवाहरात आदि उपहारों का उल्लेख मिलता है। बीजापुर, गोलकुंडा, खान देश आदि दक्षिण के राज्यों से मुगल बादशाह को बहुत सा धन मिलता था।[5]

मध्य युग में यह प्रचलन था कि जब कोई किसी बड़े अधिकारी से मिलने जाता था तो भेंट स्वरूप कुछ ले जाता था जिसे पेशकश कहा जाता था। अकबर ने

---

1. *वही*, पृ० 63
2. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 187-89
3. शर्मा, एस० आर०, *पू० उद्०*, पृ० 63
4. *वही*, पृ० 64
5. *वही*

पेशकश के लिए अलग-अलग विभाग स्थापित किया था जो उसके उत्तराधिकारियों के समय भी बना रहा।

शुल्क तथा जुर्माने

Judicial fees न्यायिक शुल्क, जुर्माने, शुल्क आदि सरकारी आय के साधन थे। अनुचित व्यवहार, शराब तथा मादक द्रव्यों के सेवन के बाद अशोभनीय व्यवहार करने पर जुर्माना वसूला जाता था। राज्य कर्मचारियों के द्वारा कर्त्तव्यों की अवहेलना पर जुर्माना किया जाता था। औरंगजेब ने उल्लेख किया है कि एक अधिकारी के द्वारा शाहजहाँ के समय गुसलखाना में अशोभनीय व्यवहार करने पर 1 लाख का जुर्माना लगाया गया। अकबर ने विवाहों का (रजिस्ट्री) पंजीकरण करने की प्रथा चलाई थी जिसके लिए शुल्क देना पड़ता था।[1]

अबवाब

मुगल शासन का प्रारंभ होने के समय बहुत से अबवाब (cess) लिए जाते थे। अकबर ने प्रजा पर कर का बोझ हल्का करने के लिए बहुत से अबवाब समाप्त कर दिए।[2] इनमें प्रमुख थे मीर बहरी (बंदरगाहों पर लगने वाला कर) गाँव शुमारी (प्रति बैल) सैरे दरख्ती (प्रति पेड़) पेशाकर (विभिन्न पेशों पर) दरोगाना (दरोगा शुल्क) तहसीलदारी, सलामी (भूमि पाने पर भेंट) खरीदा प्राप्ति पर कर, सर्राफी (धन विनिमय कर) हासिले-बाजार शुल्क, नक्खाश (पशु बिक्री कर) इत्यादि। जहाँगीर ने गद्दी पर बैठने पर बहुत से अबवाब समाप्त कर दिये थे जैसे तमगा, मीर बहरी आदि। औरंगजेब ने 63 अबवाब समाप्त किए थे।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी आदेश के बाद भी अबवाब पूर्णतया बन्द नहीं हुए थे। इन अबवाब से होने वाली आय की पर्याप्त जानकारी नहीं है। लेकिन बंगाल में औरंगजेब के समय अबवाब हटाने से शाइस्ता खाँ को 12 लाख रूपये की हानि हुई थी।

धार्मिक कर

धार्मिक कर मुगल काल में गैर मुसलमानों से जजिया के रूप में वसूला जाता था। यह कर सल्तनत काल से चला आ रहा था। मुगल बादशाह बाबर और हुमायूँ ने उन सब सम्पत्तिशाली गैर मुस्लिम युवाओं पर यह कर वसूल कराया। यह कर 150 दाम गरीब व्यक्ति, 250 दाम प्रति मध्यम वर्ग व्यक्ति तथा 500 दाम प्रति

---

1. शर्मा, एस० आर०, *पू० उद्०*, पृ० 64
2. त्रिपाठी, आर०पी०, *सम आस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन,* विस्तार के लिए पृ० 333-334 तक देखें।
3. सरकार, जे०एन०, *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 76-90

सम्पन्न व्यक्ति लगाया था। 1563 ई० में अकबर ने यह कर हटा दिया था। औरंगजेब ने 1679 में पुनः यह कर लगा दिया था। इसके कारणों पर विभिन्न यूरोपिय यात्रियों और इतिहासकारों ने अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं। मनूची के अनुसार औरंगजेब का राजकोष खाली हो गया था इसलिए उसे यह कर लगाना पड़ा। मीरात-ए-अहमदी के अनुसार उसने इस्लाम धर्म के प्रसार के लिए यह कर लगाया। जो कर नहीं चुका पाते वो इस्लाम स्वीकार कर लेते थे। जज़िया चाहें आर्थिक व धार्मिक कारणों से हटाया अथवा लगाया गया हो लेकिन इससे यह तय है कि गैर-मुस्लिमों का दर्जा राज्य में समानता का नहीं था। बादशाह की दया पर बहुसंख्यक प्रजा का सम्मान निर्भर था। इससे होने वाली आय बहुत अधिक थी। गुजरात में इससे होने वाली आय कुल आय का 4 प्रतिशत थी। पूरे साम्राज्य से होने वाली आय इस आधार पर कई गुना बढ़ी रही होगी। तीर्थयात्रा एक अन्य कर था जो गैर-मुसलमानों से तीर्थस्थानों की यात्रा करने तथा धार्मिक मेलों और उत्सवों पर लिया जाता था।[1] इसकी दर 6 1 / 2 रूपये प्रति सिर थी। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'सम आस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन' में लिखा है कि धार्मिक करों के स्वरूप में अकबर के समय एक परिवर्तन दिखाई देता है। राजकीय आय का प्रमुख स्रोत भूमि कर हो जाता है तथा इस्लाम के द्वारा स्वीकृत कर जज़िया, ज़कात और खम्स समाप्त नहीं होते हैं वरन् महत्त्वहीन हो जाते हैं। विभिन्न परिस्थितियों के कारण शनैः शनैः लुप्त होने लगते हैं। "As a secular element of the state predominated over the religious taxation, also became more and more free from religious connexion. Besides other considerations the difficulties of realizing religious taxes, owing to their complexities and exceptions, contributed to their gradual abandonment by the state."[2] फिरोज तुगलक के शासन के समय से ही यह प्रमुखता खोने लगे और अकबर के शासन काल में तो लुप्त प्रायः हो गये।

जज़िया को समाप्त करने का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। फादर होस्टन (Father Hosten) ने लिखा है कि ईसाईयों पर से भी जज़िया हटा लिया गया था।[3] ज़कात जो मुसलमानों से लिया जाने वाला धार्मिक कर था उसे अलाउद्दीन खिलजी ने पशुओं पर से हटा दिया था। सिकंदर लोदी ने अनाज तथा अन्य सामान जो जीवन के लिए अति आवश्यक थे उन्हें जकात से मुक्त कर

---

1. देखें, सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी* का परिशिष्ट – 1 पृ० 147-160
   देखें, परिशिष्ट – 2
2. त्रिपाठी रामप्रसाद, *पू० उद्०*, पृ० 331-332
3. *वही*

दिया।[1] डॉ० त्रिपाठी लिखते हैं कि, "The Mohammadan Law itself draws distinction between neccessaries of life and other things in matter of taxation.."[2] इस प्रकार ज़कात का हटाना इस्लामिक कानून के विरुद्ध न होकर उसकी परिधि में था। बादशाह अकबर ने एक कदम आगे बढ़ कर अन्य वस्तुओं को भी ज़कात से मुक्त कर दिया। Another feature in regard to Zakat is that probably it gradually lost its religious significance and became an ordinary tax not confined to Muslims only."[3] इसका अर्थ यह नहीं है कि ज़कात पूरे साम्राज्य से समाप्त हो गया था वरन् इसका तात्पर्य सिर्फ इतना है कि इस्लामिक करों में प्रमुख धार्मिक कर के रूप में इसका महत्त्व गौण हो गया।

भू-राजस्व

उपरोक्त कर कुल मिला कर सरकारी आय का थोड़ा सा ही भाग थे। राजकीय आय का मुख्य स्रोत खराज़ अर्थात् भूमि कर था। मध्यकालीन भारत में ख़राज भूमि पर लागू न होकर उपज पर लिया जाता था। मुगल काल में पूरे साम्राज्य की भूमि को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया था- खालसा भूमि तथा जागीर भूमि। इसके अतरिक्त 'मदद-ए-माश', 'मिल्क' अथवा 'सुयूरगल' अनुदान में दी गई भूमि भी थी। खालसा भूमि से प्राप्त आय सीधे राजकोष में जमा की जाती थी। इस आय से राजा का व्यक्तिगत खर्च, राजसी परिवार, राजा के अंगरक्षकों व निजी सैनिकों, युद्ध की तैयारी का खर्च निकाला जाता था। लेकिन सरकारी कर्मचारियों का वेतन सैन्य अधिकारी देता था। 1595 में आईन-ए-अकबरी के अनुसार अकबर के महली विभाग का वार्षिक खर्च 309, 186, 795 दाम अथवा 7, 729, 670 रुपये था। खालसा भूमि पूरे साम्राज्य की भूमि का 20 प्रतिशत थी। अधिकतर भूमि जागीरों के अन्तर्गत आती थी। परन्तु यह विभाजन बदलता रहता था। बादशाह के योग्य तथा केन्द्र के मज़बूत होने पर खालसा भूमि ज्यादा रहती थी परन्तु 18वीं सदी में मुगल बादशाह की स्थिति कमजोर होने पर यह भूमि कम हो गई थी।

जागीर भूमि वह भूमि थी जो अमीर-उमराओं और प्रमुख राज्य कर्मचारियों को वेतन मूल्य के बदले में दी जाती थीं। जागीरें देना उनको वापस लेना, घटाना-बढ़ाना बादशाह के पूर्ण अधिकार में था। मुगल काल में जागीरों का हस्तानान्तरण एक आम प्रक्रिया बन गया था। हस्तानान्तरण के समय भूमि केन्द्र के अधिकार में

1. त्रिपाठी, रामप्रसाद, *पू० उद्०*
2. *वही*
3. *वही*

रहती थी जिसे 'पैबाकी' कहा जाता था। जब किसी कर्मचारी को कुछ अन्य कार्य सौंपे जाते थे तो उसे पारितोषक के रूप में कुछ जमीन दे दी जाती थी। जिस पर लागू कर को वह वसूल कर सकते थे। काम समाप्त होने पर वह भूमि वापस ले ली जाती थी। ऐसी भूमि 'पैबाकी' कहलाती थी। इसके अतिरिक्त 'वतन जागीर' का उल्लेख मिलता है। महाराजा जसवन्त सिंह की मारवाड़ जागीर उनकी वतन जागीर थी। इस तरह के जागीरदारों को जब मनसब दिया जाता तो उसकी आय का अनुमान किया जाता था। अगर वतन जागीर की आय मनसबदार के ओहदे से कम होती थीं तो उसे मनसब के अनुरूप अतिरिक्त जागीर प्रदान की जाती थी। महाराजा जसवंत सिंह को हिसार की जागीर दी गई लेकिन जब उन्हें गुजरात का सूबेदार बनाया तो हिसार की जागीर वापस लेकर गुजरात में जागीर दी गई।

मदद-ए-माश भूमि अनुदान के रूप में दी जाने वाली भूमि थी। सिद्धान्त रूप में 'मदद-ए-माश' का अनुदान धर्माथ कार्य करने का एक साधन था। यह अनुदान अल्लाह के गरीब तथा दीन-हीन व्यक्तियों के लिए दिया जाता था। इन अनुदान पाने वालों को अपने भू-क्षेत्र से कर वसूल करने का अधिकार था। इन भू-क्षेत्रों का स्वामित्व इन्हें नहीं दिया जाता था। वह न तो इन्हें हस्तानान्तरित कर सकता था और न ही बेच सकता था। इनका उद्देश्य कुछ विशेष लोगों को आजीविका का साधन उपलब्ध कराना था। 'मदद-ए-माश' पाने वालों की चार श्रेणियां थीं-विद्वान, धार्मिक संत, विप्र, श्रेष्ठ कुल के लोग जो नौकरी नहीं करते थे। जजों, काज़ियों, कातिबों, मदरसों, मस्जिदों, दरगाहों आलिमों आदि के लिये विशेष वक्फ इनाम इदारत, मिल्क, सयूरगाल में जमीन दी जाती थी। बदायूंनी को 'मदद-ए-माश' भूमि प्राप्त थी। गैर मुसलमानों भी यह अनुदान दिया जाता था। कभी यह जमीन आधी बंजर आधी उपजाऊ होती थी। भूमि पाने वाले से यह आशा की जाती थी वह बंजर जमीन को उपजाऊ बनायेगा। इस कार्य के लिए वह किसानों को पट्टे पर खेती करने के लिए भूमि दे सकता था। नकद रूप में दिया गया अनुदान वज़ीफा कहलाता था। आरम्भिक चरणों में तो 'मदद-ए-माश' पर सरकार का प्रभुत्व रहता था उन्हें समाप्त किया जा सकता था तथा बदला भी जा सकता था। लेकिन धीरे-धीरे यह पुश्तैनी सम्पत्ति का रूप लेने लगते थे और एक जमींदारी की तरह हो जाते थे। अकबर ने 'मदद-ए-माश' भूमि का मूल्यांकन करया तो उसे इसमें व्याप्त भ्रष्टाचार के बारे में पता चला। उसने अनाधिकृत अनुदानों को जब्त करा दिया। जिससे अब्दुल कादिर बदांयूनी अकबर से नाराज हो गया। अकबर ने सद्र के द्वारा 'मदद-ए-माश' देने पर प्रतिबंध लगा दिया। अनुदान शाही फरमान द्वारा प्रदान किया जाने लगा। इन फरमानों में पैमाइश का आदेश तथा भूमि किन-किन शुल्क से मुक्त होगी का पूरा ब्यौरा था तथा शर्तें रहती थीं। अकबर के उत्तराधिकारियों के समय अकबर

के द्वारा बनाये नियमों के अनुसार ही 'मदद-ए-माश' दी गई। इस प्रकार की भूमि का हस्तानान्तरण नहीं हो सकता था। अनुदान प्राप्त करने वाला आजीवन इसका प्रयोग करता था और अगर उसकी संतान उसी की तरह होती थी तो उसे वह भूमि दे दी जाती थी अन्यथा वह वापस ले ली जाती थी। यह भूमि पाने वाले दूर गाँवों में जाकर रहते थे जहां उनका वहाँ के निवासियों से सम्पर्क होता। इससे आपसी आदान-प्रदान की पृष्ठ भूमि तैयार हुई होगी।

जहाँगीर ने अपने अमीरों को अपना परिवार एक स्थान पर रखने के लिए 'अल्तमगा' जागीरें दी थीं जो तैमूरी परम्परा थी। भू राजस्व व्यवस्था में मुगल काल में जमींदार तथा जमींदारी का उल्लेख भी मिलता है। इतिहासकारों ने मुगलकाल के जमींदारों के बारे में अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। इरफान हबीब के अनुसार जमींदार फारीसी शब्द है जिसका अर्थ है जीमन का धारक। इस शब्द का प्रयोग उन भू-धारकों के लिये किया जाता था जो अनुवांशिक तौर पर ग्राम स्तर से बड़ी जमीनों के मालिक थे। जमींदारी शब्द एक जातीय अवधारणा थी। मिरात-अल-इसतिल्लाह नामक ग्रन्थ जिसकी रचना 18वीं शताब्दी में हुई, में जमींदार को साहिब-ए-जमीं कहा गया है जो अब ग्राम या नगर की भूमि का ऐसा मालिक बन गया है जो काश्तकार भी है। डॉ० बी०आर० ग्रोवर के अनुसार काश्तकार जमींदारों की कोटि में नहीं आते हैं। नोमन अहमद सिद्दिकी का कहना है जमींदारी के स्वरूप को समझने में सबसे बड़ी कठिनाई जमींदारों के अलग-अलग समय और क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हित व अधिकारों का होना है। जिनका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। मुगल शासन में इन जमींदारों की उत्पत्ति और उनके स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर उनका वर्गीकरण किया गया।[1]

जमींदारों की उत्पत्ति का इतिहास यूरोपीय जमींदारी सामंती व्यवस्था से एकदम अलग ढंग का है। भारत में भूमि पर स्वामित्व बनकटी अर्थात् वनों को काट कर खेती प्रारंभ करने के अधिकार से अथवा पहाड़ों को काट कर भूमि को खेती योग्य बनाने वाले के अधिकार से तथा युद्ध द्वारा भू-भागों पर विजय प्राप्त करने या पैतृक अधिकार से और जमीन को खरीदने जैसा कि मानसिंह तथा शुजा सिंह ने उज्जैन से शाहबाद आकर जमीने खरीद लीं और जमींदार बन गये; अथवा सरकारी फरमान से जमीन विशेष पर जमींदारी का सनद मिलने से जमीनों पर स्वत्व स्थापित हुआ।[2]

बादशाह अकबर ने इन भू-स्वामियों को स्वायत्त सरदार (autonomous chieftains) जिन्हें राजा, महाराजा, राणा, रावत, राव या राय कहा जाता था की

1. वर्मा, ह० (सं.), पृ० 408-410
2. *वही*, पृ० 410

श्रेणी में रखा। इनमें से उन्हें स्वायत्त सरदार माना जिन्होंने अकबर की आधीनता स्वीकार कर ली। उन्हें सैनिक तथा वित्तीय दायित्वों से मुक्त रखा। कुछ ऐसे स्वायत्त सरदार भी थे जिन्हें सैनिक सेवा के साथ-साथ पेशकश भी देनी पड़ती थी। अकबर की कुशलता इस बात में निहित है कि उसने इन्हें अपने आधीन साम्राज्य की सेवा में सहयोगी बना दिया। उनकी जमींदारी अर्थात् वतन जागीर को वेतन के रूप में उनके पास रहने दिया। इसका उल्लेख मनसबदारी व्यवस्था में किया जा चुका है।

जमींदारों की जमीनों से कर इत्यादि वसूल करने का काम रखने वाले सरदार वसूल की गई राशि में से कुछ धन अपने पास रख लेते थे। इनकी स्थिति खिदमी या मध्यवर्ती जमींदार की सी थी। जिनका दायित्व सेवा करना था परन्तु जमीन पर उनका कोई स्वत्व नहीं होता था। डॉ० नूरुल हसन के अनुसार मुकद्दम, मुखिया, चौधरी, खट, इजारदार, पट्टादार, देशमुख, देसाई, देशपाण्डे इसी कोटी में आते थे।[1] परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना अतिआवश्यक है कि उपरोक्त मध्यवर्ती जमींदार ईस्ट इंडिया कम्पनी के भूमि बंदोबस्ती के कारण पैदा हुए कारिंदों (Absentee land lords) से भिन्न था। जमींदारों का एक वर्ग वह था जो कृषि भूमि तथा साथ ही रिहाईशी भूमि का मालिक भी था। वह स्वयं या भाड़े के मज़दूरों से खेती करवाता था।

बादशाह अकबर ने अपनी मनसबदारी व्यवस्था तथा भू-राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत खराज़ निश्चित कर पैदावार पर निश्चित कर अदा करने का दायित्व स्थिर कर दिया। उसने कृषि के विस्तार और अधिकार से अधिकार भूमि पर खेती करने के लिये प्रोत्साहन दिया। उन्हें अपने क्षेत्र में शान्ति तथा व्यवस्था कायम करने का दायित्व सौंपा। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि अधिकांश सामंत राज्य सत्ता के भागीदार हो गये। उन्होंने केन्द्रीय सत्ता की अधीनता स्वीकार की। अक्सर यह होता था जिनकी जागीर राजस्थान में है उन्हें पूर्व में राजकीय पद पर नियुक्त किया जिससे वह अपनी पुरानी जागीर का शासन नहीं चला सकते थे। अकबर ने उनकी रक्षा का प्रबंध किया। मानक सिक्कों का चलन किया। बाजार में वस्तुएँ बिकें और निश्चित मूल्य पर बिक्री हो। अकबर के समय में वित्त का चलन पहले से भी बड़े पैमाने पर हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि गाँव भी नगरों के आर्थिक जीवन के अन्तर्गत सिमट आये। मालगुजारी द्रव्य के रूप में वसूल की जाने लगी। इससे राज्य कर्मचारियों का एक बहुत बड़ा दल तैयार हुआ जो एक बहुत बड़े इलाके में केन्द्रबद्ध राज्य सत्ता संचालित करता था।[2] इस तरह मुगलकालीन राजस्व तथा प्रशासनिक व्यवस्था के जमींदार प्रमुख आधार थे।

---

1. वर्मा, ह० (सं.), पृ० 411
2. शर्मा, रामविलास, *मार्क्सवाद और भारत*, तीसरी पुस्तिका और प्रकाशन जनवादी साहित्य सदन, आगरा, 1988, पृ० 87

उपरोक्त विवरण के आधार पर मुगल काल में भूमि का मुख्य विभाजन खलसा भूमि तथा जागीर भूमि में किया गया था लेकिन गैर खालसा भूमि में 'मदद-ए-माश' 'मिल्क' अथवा 'सुयूरगल' वतन जागीर, पैबाकी, अलतमगा तथा जमींदारी भूमि आती थी।

भूमि के इस वर्गीकरण के बाद प्रश्न उठता है कि भूमि को जोतने बोने का काम कौन करता था? काश्तकारों के क्या अधिकार और कर्तव्य थे? वह कौन थे? मुगल बादशाह बाबर और उसके वंशजों ने भारत में अपना जो साम्राज्य स्थापित किया उसके अनुसार वह सभी विजित भू भाग के स्वामी थे। उन्हें भूमि सम्बन्धित सभी अधिकार प्राप्त थे। लेकिन यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि मुगलों, सल्तनत के विभिन्न राजवंशों तथा उससे पूर्व के राजाओं के पास भूमि का कोई स्वत्व संबंधी अधिकार नहीं था। शासन को उपज का एक भाग (जो भी सरकार तय करें) मिलता था। मूलतः भूमि की (मिल्कियत) स्वत्व काश्तकार के पास माना जाता था। अबुल फज़ल ने आईन-ए-अकबरी में काश्तकारों का उल्लेख भूमि के मालिकों की तरह किया है। भूमि वंश परम्परा से रियाया के विभिन्न वर्गों के स्वत्व में थी। यही कारण है कि अंग्रेजी शासन में किसानों को बेदखल करने और जमीन का स्वत्व बार-बार बेचने से कृषि की बदहाली और किसानों में भुखमरी फैल गई। डॉ० मजुमदार ने लिखा है कि, किसान अंग्रेजी सरकार के एक निर्णय से वंश परम्परा से प्राप्त भूमि के किराये दार बन गये। किरायेदार और करदाता में जमीन-आसमान का अंतर है। अतः मुगल शासकों ने काश्तकार के स्वत्व से कोई छेड़-छाड़ नहीं की। मुगल शासन में काश्तकारों की कई श्रेणियाँ दिखाई देती हैं जिसमें 'कालाँतुरान' (विशेष सुविधा प्राप्त) और 'रेजा रियाया' प्रमुख थीं। यह विभाजन कृषि से होने वाली उपज तथा जमीन पर स्वयं काम करने अथवा दूसरों से करवाने जैसे घटकों पर निर्भर था। खुदकाश्त वह किसान था जो स्वयं जमीन पर खेती करता था और उसकी जमीन उसी गाँव में थी जिसका वह निवासी था। खुदकाश्त से कम मालगुजारी ली जाती थी। आईन-ए-अकबरी में इस आशय का निर्देश 'अमलगुजार' को दिया गया है कि वह ठीक से जाँच-पड़ताल कर ले कि 'रैयतकाश्त' भूमि खुदकाश्त में तो नहीं बदली गई। किसानों की दूसरी श्रेणी 'पाहीकाश्त' की थी। पाहीकाश्त किसान भी खुदकाश्त किसानों की तरह भूमि का मालिक होता था। वह अपनी भूमि पर खेती करने के साथ-साथ दूसरे गाँव में भी खेती करने जाता था। कुछ 'पाहीकाश्त' किसानों के पास अपने हल और बैल थे। जिससे वह नई भूमि को खेती योग्य बना सके। मुगल काल में भूमि इतनी ज्यादा थी कि 'खुदकाश्त' और 'पाहीकाश्त' किसानों में स्पष्ट सीमा तथा भेद नहीं था। इसके अतिरिक्त गाँव में कुछ ऐसे भी काश्तकार थे जो भूमि स्वामियों के द्वारा खेती करने के लिए रखे जाते

थे। यह उस दशा में होता था जब किसी व्यक्ति के पास इतनी भूमि हो कि वह स्वयं उसे काश्त न कर सकता था। कुछ किसान मुजारे (Occupancy Tenants) (दखली काश्तकार) पर भूमि काश्त करने को दे देते थे। ऐसी भूमि पर लगान देने का दायित्व भू स्वामी का होता था। मुजारे भी वंश परम्परा से प्राप्त भूमि के तब तक हकदार थे जब तक वह भू स्वामी को लगान देते रहें। इस तरह भूमि की जोत करने वाले काश्तकारों में खुदकाश्त, पाहीकाश्त तथा दखली काश्तकार और अल्पसमय के लिए रखे काश्तकार थे। लेकिन लगान देने का दायित्व खुदकाश्त और पाहीकाश्त का था।

भूमि की श्रेणियां तथा काश्तकारों की श्रेणियाँ की पर्याप्त सूचना व जानकारी के बाद अगला महत्त्वपूर्ण कार्य था लगान का निर्धारण। मुगल शासकों ने तीन शताब्दियों के मुस्लिम शासन में प्रचलित लगान व्यवस्था में कोई आकस्मिक तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया उन्होंने प्रचलित व्यवस्था को अधिक कारगर तथा केन्द्रोन्मुख बनाने का प्रयास किया। जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि दखली काश्तकार से लेकर बादशाह तक सभी अपनी आय के लिए कृषि उत्पादन में एक हिस्से के हकदार थे। मुगल राजस्व व्यवस्था ने जमीन और उपज (पैदावार) पर मालिकाना स्वत्व जमाने के स्थान पर शासन का दाय भाग प्राप्त करने के लिये सुगम और कारगर उपाय किए। यही मुगल भूमि राजस्व व्यवस्था का महत्वपूर्ण तत्त्व है। मुगल शासन ने भूमि कर व्यवस्था का संगठन करने का विशेष प्रयत्न किया। बादशाह अकबर ने इस क्षेत्र में कई प्रयोग किए। इन प्रयोगों का उद्देश्य करों को यथासंभव उत्पादन के अनुपात में निर्धारित करना था जिससे करों को सुगमता से वसूल कर राजकोष तक पहुंचाया जा सके। मुगल भूमि व्यवस्था के इस तरह दो चरण थे—पहला लगान निर्धारित करना और दूसरा लगान वसूल करना। 'जमा' शब्द का अर्थ था आँका गया कुल लगान जिसे किसी व्यक्ति को देना था और 'हासिल' शब्द का अर्थ था, राज्य द्वारा वसूल की गई वास्तविक राशि।

शेरशाह के शासन के पूर्व लगान निर्धारण के दो तरीके प्रयुक्त किये जाते थे— एक था 'गल्ला बख्श' और दूसरा 'कानकूत' 'मुक्ती और नश्क'। गल्ला बख्श में उपज का विभाजन सरकार तथा काश्तकार के बीच होता था। सरकारी हिस्सा 1/8 से 1/3 तक तय किया जाता था।[1] कानकूत का अर्थ है कि सम्पूर्ण भूमि की नाप करके अथवा कदमों से गिनती करके, खड़ी फ़सल का निरीक्षण करके एक आकलन तैयार करना तथा उसके आधार पर लगान तय करना।[2] शेरशाह ने कानकूत में परिवर्तन किया। जिससे कानकूत 'जब्ती' में बदल गया। कानकूत में प्रत्येक

---

1. शर्मा, एस०आर०, *मुगल गवर्नमेन्ट एंड एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 75
2. वर्मा, हरिश्चन्द्र, सं०, *मध्यकालीन भारत,* भाग-2, पृ० 395

फसल पर राई (Rai) अर्थात् राज्य की मांग निर्धारित की जाती थी जिसे अनाज में दिखाया जाता था। 'जब्ती' में एक मानक समय सारिणी बनाई जाती थी इसमें इस बात पर ध्यान दिया जाता था कि कितने क्षेत्र में बुआई हुई। इस सूची में प्रत्येक फसल के लिये अच्छी, मंझौली और खराब उपज दर्ज की जाती थी। उसके बाद उसका औसत निकाला जाता था और औसत का 1/3 हिस्सा राज्य को (राई) राजस्व के रूप में दिया जाता था। राज्य का हिस्सा पहले जिन्स में निर्धारित किया जाता था बाद में नकदी में।

बादशाह अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भ में शेरशाह द्वारा स्वीकृत राई प्रथा को स्वीकार कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में एक ही योजना लागू हो गई। इससे किसान की लगान अदा करने की क्षमता और जिस जमा पर जागीरदारों को भूमि सौंपी गई थी भारी असंगति पैदा हो गई। अत: सन् 1565-66 तक और उसके बाद प्रति वर्ष फसल की स्थानीय दरें तय की जाती थीं और हर स्थान की राई बदल जाती थी। स्थानीय स्तर पर इससे 'दस्तूर अमल' गाँवों की सूची के आंकड़ों में बहुत अंतर हो जाता था। अत: अकबर ने इसे दूर करने के लिए बहुत से सुधार किए।

अकबर ने अपने शासन के 24 वर्षों तक लगान 'जमा' और 'हासिल' के लिए बहुत से प्रयोग किए।[1] आईन से पता चलता है कि उसने शेरशाह की भूमि व्यवस्था से अपना प्रयोग प्रारंभ किया लेकिन उसमें आये अंतर तथा दोषों को दूर करने के लिए 1560 में ख्वाजा अब्दुल मज़ीद को आसफ खाँ की उपाधि देकर भूमि व्यवस्था को संगठित करने का भार सौंपा। बैरम खाँ के समय में यह प्रथा थी कि मालगुजारी नकद रूपयों में न लिखकर विभिन्न उपज (अनाज, जिन्स) में लिखी जाती थी। यह दरें शेरशाह के समय से चली आ रही दरें ही थीं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। मुगल साम्राज्य में केवल अवध, पंजाब, दिल्ली आगरा तक का ही भाग था। इन भागों की अधिकांश भूमि वेतन के बदले अमीरों को दे दी गई थी। आसफ खाँ ने मनमाने ढंग से इन भूभागों में कहीं मालगुजारी बढ़ा दी और कहीं कर दी। इससे मुगल अमीर जिन्हें जागीरें प्राप्त थीं नाराज हो गये। यह प्रयोग सफल नहीं रहा। अकबर ने आसफ खाँ को हटा दिया।

आसफ खाँ के स्थान पर 1562 में मलिक फूल को एतिमाद खाँ की उपाधि देकर खालसा भूमि का दीवान नियुक्त किया। उसे खालसा भूमि का भी दीवान नियुक्त किया गया और भूमि व्यवस्था को संगठित करने का आदेश दिया गया। एतिमाद खाँ ने सितम्बर 1562 में मालगुजारी वसूल करने के नये नियम बना कर लागू किए। उसने क्या कदम उठाये इसके बारे में ज्ञात नहीं लेकिन अबुल फज़ल ने

---

1. सरन पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 108

लिखा है कि उसके सुधार उपयोगी सिद्ध हुए। अब्दुल कादिर बदांयूनी ने भी इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा कि इन सुधारों से खर्च में बहुत बचत हो गई। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि, "He tried another experiment,...The yearly survey and assessment was done away with the system called nasq and was established in the whole empire."[1] एतिमाद खाँ ने करोड़ी व्यवस्था लागू की। उसके अनुसार मुगल साम्राज्य की खालसा भूमि ऐसे बराबर भागों में विभाजित की गई जिससे प्रत्येक भाग की मालगुजारी एक करोड़ दाम अर्थात् 2 1/2 लाख रुपये हों। इसको वसूल करने वाले अधिकारी को आमिल कहा जाता था परन्तु जनसाधारण में वह करोड़ी के नाम से जाना जाता था। उसकी सहायता के लिए एक मुन्शी (बितकची) तथा एक खजांची नियुक्त किया गया। ये मालगुजारी वसूल करके खजाने में जमा करते थे। यह प्रयोग बिहार, बंगाल तथा गुजरात में किया गया। यह विभाजन अवैज्ञानिक था इसलिये इसे त्याग दिया गया। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि, "This experiment was found impracticable and was soon abandoned, although the title of Karori continued to be used for a collector of government dues." भूमि और उसमें पैदा होने वाले अन्नों के आंकड़े उपलब्ध न होने कारण मालगुजारी में सुधार संभव नहीं था इसलिए इस प्रथा को त्याग दिया गया।

बादशाह अकबर ने एतिमाद खाँ को इस पद से हटा दिया और उसके स्थान पर 1567 में मुजफ्फर खाँ को नियुक्त किया। अकबर के आदेश पर मुजफ्फर खाँ ने उपज के स्थान पर भूमि कर नकद जमा करने की प्रथा को प्रारम्भ किया। मुजफ्फर खाँ ने शेरशाह के समय से आ रही अनाज की दरों को समाप्त कर दिया। उसने प्रत्येक परगने की फसलों के लिए अलग-अलग दरों की व्यवस्था की। कानूनगो को आदेश दिया गया कि वह अपने-अपने परगने की भूमि और उपज से सम्बन्धित आंकड़े भेजे। इन आंकड़ों के आधार पर मालगुजारी की नई दर तैयार की गई। इस प्रथा को तकसीम उल मुल्क कहा गया। इस प्रथा में भी दोष पाये गये। साम्राज्य का प्रान्तों में ठीक से तब तक विभाजन नहीं हुआ था।[2] खालसा (Khalsa) भूमि बहुत कम थी। डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार 1571 में स्थिति यह थी कि खरीफ और रबी की फसलों तथा विभिन्न अनाजों के लिये अलग-अलग निश्चित दर सूचियाँ थीं और पूरे साम्राज्य की कुल मालगुजारी भी निश्चित हो चुकी थी लेकिन फसलों की दरें और जमा दोनों करीब-करीब ठीक होते हुए भी वास्तविक उपज के विवरण पर आधारित नहीं थे। परगना साम्राज्य की एकरूप ईकाई नहीं थे। मूल्य निर्धारण और सरकार से उस पर आदेश में बहुत समय लग जाता था।

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ०108
2. शर्मा, आर०एस०, *मुगल गवर्नमेन्ट एंड एडमिनिस्ट्रेशन*, पृ० 79

1573-74 में इस सम्बन्ध में चौथा प्रयोग किया गया। भूमि अमीरों में बटी होने के कारण खालसा भूमि बहुत कम थी। इस सुधार में सर्वप्रथम खालसा भूमि बढ़ाने का प्रयास किया गया। अमीरों के पास जो भूमि थी उसकी जांच पड़ताल करवाई गयी। मदद-ए-माश, जागीर भूमि, आदि का निरीक्षण किया गया। भूमि का पुनः वितरण किया गया जिससे कुछ अमीरों का स्थानान्तरण किया गया। कुछ से भूमि वापस ली गई। खेती का विस्तार किया गया। जौनपुर से कर्मनाशा तक की भूमि खालसा भूमि घोषित कर दी गई। इसके परिणामस्वरूप 1579 तक बिहार, गुजरात तथा पुराने राजा रजवाड़ों को छोड़कर साम्राज्य का अधिकांश भाग खालसा प्रदेश घोषित कर दिया।

अकबर ने करोड़ी व्यवस्था के स्थान पर ज़ब्ती Zabti व्यवस्था को शुरू करवाया। इस प्रथा की तीन महत्त्वपूर्ण बातें थी—पहली भूमि का सर्वेक्षण दूसरा मालगुजारी तथा लगान निश्चित करने के लिए दस्तूरअमल का प्रवर्तन और तीसरा खसरे की तैयारी जिसमें किसान का नाम, फसल, खेत की लम्बाई, चौड़ाई, क्षेत्रफल इत्यादि अंकित रहता था। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि कुल 119 दस्तूर अमल थे। जब जब्ती प्रथा प्रारम्भ की गई तो भूमि-व्यवस्था का संयुक्त उत्तरदायित्व राजा टोडरमल तथा शाह मन्सूर को सौंपा गया। दोनों को संयुक्त दीवान का उत्तरदायित्व सौंपा गया। कुछ समय बाद टोडरमल को बंगाल का सूबेदार बना कर भेज दिया गया। भूमि व्यवस्था को लागू करने की सारी जिम्मेदारी शाह मंसूर पर आ गयी। राजा टोडरमल को कई बार भूमि व्यवस्था की योजना का कार्य भार सौंपा गया था। उसने भूमि व्यवस्था को ठीक करने की योजना बनाई। शाह मंसूर ने उसे कड़ाई से लागू किया जिसके कारण कुछ असन्तोष पैदा हो गया। टोडरमल ने बंगाल में भूमि बन्दोबस्त किया। शासन के 26वें वर्ष में राजा टोडरमल को बंगाल से बुलाकर अकबर ने अपना वजीर दीवान नियुक्त किया। शासन के 27वें वर्ष में राजा टोडरमल को प्रोन्नत करके वकील बना दिया। भूमि व्यवस्था में सुधार करने का दायित्व अब पूरी तरह से टोडरमल के कन्धों पर आ गया।

राजा टोडरमल ने तब 'जमा' और 'हासिल' का मिलान करवाया तो पता चला कि कहीं कहीं 'हासिल' 'जमा' से ज्यादा था। भूमि की प्रति वर्ष पैमाईश करना कठिन था। लगान का बकाया बढ़ता जा रहा था तथा अग्रिम धनराशि का भुगतान वापस न होने से समस्या जटिल होती जा रही थी। राजा टोडरमल ने लगान निर्धारण और वसूली के लिये विस्तृत प्रबंध किए। लगान निर्धारित करने के लिए भूमि को चार भागों में बाँटा—

1. पोलज : प्रत्येक वर्ष जोती जाने वाली भूमि
2. परती : वह भूमि जिस पर कुछ महीने बुआई नहीं की जाती थी।

3. चाचर : 3-4 साल तक बिना बुआई वाली भूमि।

4. बंजर : जिस पर पाँच साल से अधिक समय से बुआई नहीं हुई।

पोलज और परती भूमि को तीन भागों में विभाजित किया गया—उत्तम, मध्यम और निम्न। इन तीनों श्रेणियों की प्रति बीघा उपज का आकलन किया गया। पोलज और परती में कोई अन्तर नहीं माना गया। परती पर खेती होने पर ही पोलज और परती में कोई अन्तर नहीं माना गया। परती पर खेती होने पर ही पोलज की दर से मालगुजारी तय की जाती थी।[1] चाचर भूमि के बारे में यह तय किया गया कि जिस वर्ष खेती होगी। उस वर्ष पोलज की तुलना में 1/3 लगान तय की जायेगी। दूसरे वर्ष में 2/3 तथा तीसरे वर्ष में पोलज के बराबर लगान तय की जायेगी। खेती करने के लिये किसानों को प्रोत्साहित किया गया इसके लिए तकाबी अग्रिम धन दिया गया। जिसकी 2 किश्तों में उगाही करने को कहा गया। बंजर भूमि पर खेती करने वालों से आंशिक लगान लिया गया। किसानों को दी जाने वाली आपत्तकालीन राहत राशि को भी नियमित किया गया। अतिवृष्टि के समय $2^1/_2$ प्रतिशत से $7^1/_2$ प्रतिशत तक की छूट देने का प्रावधान किया गया। प्राकृतिक आपदा होने पर बादशाह को उसकी सूचना देने और छूट तथा राहत कार्य करने की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था की गई कि प्रतिदिन कितनी लगान वसूल हुई उसका साप्ताहिक रिकार्ड भेजना होगा और महीने के अंत में समस्त राशि खजाने में जमा की जायेगी। वसूली को सुविधाजनक बनाने के लिए पुराने सिक्कों का नये सिक्कों में Conversion परिवर्तन किया गया और परिवर्तन सारिणी उपलब्ध कराई गई।

भूमि की नाप प्रारम्भ में कदम (पैर) से की जाती थी। फिर इसे जरीब रस्सी से किया जाने लगा लेकिन इन दोनों प्रकार से भूमि की नाप करने में भूमि की नपाई में दोष आ जाता था। राजा टोडरमल ने भूमि की नाप करने वाले यन्त्र में परिवर्तन कर उसे लोहे की जंजीरों से कराया इसके अतिरिक्त पैमाईश करने के लिये ईकाई भी तय कर दी। यह ईकाई गज-ए-इलाही कही गई। अबुल फजल ने लिखा है कि यह 41 अंगुल के बराबर था। वर्तमान गज 36 इंच का है गज-ए-इलाही 33 इंच का था। अब तक जिस सिकन्दरी गज का प्रयोग होता था उससे गज इलाही थोड़ा बड़ा था। सिकन्दरी गज 31 अंगुल का था। 60 फुट चौड़ी तथा 60 फुट लम्बी भूमि के बराबर भूमि को एक बीघा कहा गया। बीघे का 20वां भाग बिसवा कहलाता था। आधुनिक एकड़ के आधार पर अकबर के समय का बीघा 3,600 इलाही गज लगभग 3,025 वर्ग गज के बराबर था। अर्थात् 5/8 एकड़ के बराबर का एक बीघा था। भूमि की नाप करने वालों को एक दिन में 250 बीघा सर्दी में और 200 बीघा

1. शर्मा, एस०आर०, पू० उद्०, पृ० 88

गर्मी में नपाई करना होता था। नपाई का मूल्य 1 दाम प्रति बीघा नापने वाले को दिया जाता था जिसे जाबिताना कहते थे। इसे बीघा-ए-दफ्तरी कहा जाता था जो बीघा-ए-इलाही के 2/3 के बराबर था। वास्तविक नाप स्थानीय माप के आधार पर की जाती थी परन्तु दफ्तर के अभिलेखों में एकरूपता लाने के लिए बीघा-ए-दफ्तरी में परिवर्तित कर दिया जाता था। औरंगजेब के पश्चात् बीघा-ए-दफ्तरी का प्रयोग बंद कर दिया गया लेकिन मुगल शासन के अन्त तक गज-ए-इलाही चलता रहा। भूमि की नाप की ईकाई तय करने से लगान निर्धारण में एकरूपता लाई जा सकी। वस्तुतः पैमाइश या जब्त किसी गाँव की वास्तविक स्थिति पता करने का सबसे कारगर तरीका था। खेत की तैयारी, बोआई, सिंचाई, कटाई का काम मौसम पर निर्भर था और मौसम सूर्य से नियन्त्रित था। हिजरी संवत् की गणना चन्द्रमा की गति से होती थी। चन्द्र वर्ष सौर वर्ष से 11 दिन कम होता है। इस कारण हिजरी संवत् के महीने भिन्न-भिन्न वर्षों में तथा भिन्न-भिन्न मौसम में पड़ते हैं। इससे किसान को लगान अदा करने में कठिनाई आती थी। इस समस्या का निराकरण करने के लिए अकबर ने सूर्य की गति पर आधारित ईलाही संवत् चलाया। यह फसली संवत् भी है। इससे किसानों को मालगुजारी देने तथा सरकार को अपने दस्तावेज तथा अभिलेखों को अंकित करने में सुविधा हुई।

भूमि की पैमाइश, भूमि का वर्गीकरण, नाप की ईकाई तथा राजस्व वर्ष निश्चित करना भूमि व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण अंग थे। भूमि की उपज के आधार पर राजस्व का भाग भी तय कर लिया गया लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था किसान से लगान तय करना अर्थात् कर का निर्धारण। व्यक्तिगत कर निर्धारण के लिए कई बातों का ध्यान रखा जाता था जैसे—जमीन की किस्म तथा उसकी उत्पादन क्षमता; उस भूमि पर किस प्रकार का अनाज उगाया गया और कौन सा; कर दाता की सामाजिक और आर्थिक स्थिति; और कर का निर्धारण करने के लिए कौन सी पद्धति लागू की गई। आईन-ए-अकबरी के अनुसार अमलगुजारों (आमिलों) को यह निर्देश दिया गया था कि किसान मालगुजारी तय करने की जो भी पद्धति पसंद करे उसी से वे काम लें तथा उत्पादन कर्त्ता पर इतना बोझ न डालें कि खेती उजड़ ही जाये। विगत दस वर्षों की औसत उपज तथा कीमत को ध्यान में रखकर लगान तय की जाये इसके बाद किसान से 'दस्तूर' अर्थात् किसान से तय किये गये कर का दावा तैयार किया जाये जिसमें 'जमा' और 'नकदी' जिसका अर्थ राजस्व की वसूली का विवरण हो। कर-निर्धारण में अधिकतम भूमि पर जब्त लागू करने का प्रयत्न किया जाता था। 'जब्ती' प्रान्तों में किसानों को अपनी उपज का लगभग आधा भाग देना पड़ता था क्योंकि प्रान्तों में यह नियम था कि कृषि वाले क्षेत्र और दस्तूर को गुणा करने पर वह राशि आनी चाहिए जो कुल वसूली के बराबर हों किन्तु वसूली की राशि का निर्धारित

मात्रा के बराबर होना आवश्यक था। कुल भू राजस्व का निर्धारण करने में स्वीकृत भुगतानों, कमीशनों, छूट आदि का भी हिसाब लगाया जाता था और इन्हीं के आधार पर कुल और निबल वसूली का हिसाब लगाया जाता था। लगान निर्धारण में 'जब्ती' के अतिरिक्त स्थानीय परिस्थितियों के कारण बटाई, नस्क, कनकूत प्रथा भी प्रचलित रखी गई। अथवा गल्ला बख्शी तीन प्रकार की थी। राशि बटाई और लांग बटाई। राशि बटाई में खलिहान में अनाज तैयार हो जाने पर अनाज में से राज्य का भाग तथा किसान का भाग अलग कर दिया जाता था। खेत बटाई में फसल तैयार होते ही खेत को बांट दिया जाता था। लांग बटाई में खड़ी फसल के बराबर-बराबर बोझे तैयार कर लिये जाते थे और उसे बाँट दिया जाता था। इस प्रथा में हानि और लाभ दोनों ही सरकार और किसान के बीच बट जाता था। लेकिन इसमें एक कठिनाई थी कि सरकार को लगान वसूल करने के लिए बहुत ज्यादा कर्मचारी रखने पड़ते थे। कर्मचारियों द्वारा चोरी की काफी गुंजाइश थी। गल्ला रखने, फसल कटवाने आदि कार्यों के लिये अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता था।

कनकूत, बटाई का संशोधित रूप था जिसे दानाबन्दी भी कहते थे। इसमें खेत को गज-ए-इलाही से नापा जाता था। तत्पश्चात् उस क्षेत्र में प्रति बीघा पैदावार का अनुमान लगाया जाता था। यदि कर्मचारी को इससे सन्तोष नहीं होता था तो वह नमूने के तौर पर थोड़ी सी फसल कटवा लेता था। कनकूत में लगान अनाज के रूप में प्राप्त होता। राजस्व का कितना भाग सरकार तक पहुंचेगा यह कर्मचारी की नियत पर निर्भर था।

नस्क का वास्तविक अर्थ क्या था इसमें मतभेद है। कश्मीर में यह कनकूत का विकल्प थी। उत्तर भारत में इसे 'जब्ती' के अन्तर्गत माना जाता था। गुजरात में इसे नस्क-ए-जुज कहते थे अर्थात् आंशिक नस्क।[1] डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी के अनुसार लगान की राशि व्यक्ति के स्थान पर समूह से तय कर ली जाती थी। मोरलैड भी ऐसा ही मानते हैं। टी० के० वें० सुब्रमणियम के अनुसार मुगल प्रशासन से पहले लगान आंकने की जो पद्धति थी, उसमें लगान हर किसान के नाम पर आंका जाता था। लेकिन ऐसा लगता है कि वस्तुतः लगान का मूल्यांकन हर किसान के बजाय पूरे गाँव पर होता था। कश्मीर में एक और प्रथा प्रचलित थी जिसे खरवार (गधे का बोझ) के अनुसार उपज को बाँटा जाता था। केशर पर लगान 1/2 प्रतिशत थी।

मुगल साम्राज्य में लगान नकद ली जाती थी। जहाँ पर बटाई तथा नस्क की अनुमति थी वहाँ भी अनाज को नकदी में बदल दिया जाता था। प्रशासन की दृष्टि से नकद वसूली सुविधाजनक थी। इससे राज्य द्वारा अनाज को रखने-बेचने की असुविधा से बचाव हो जाता था। विभिन्न स्तरों पर कर्मचारियों की चोरी भी रोकी जा

1. हबीब, इरफान, *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगलस*, पृ० 217-19

सकती थी। नकद लगान देने में किसानों को घाटा था क्योंकि कटाई के बाद अनाज सस्ता हो जाता था और लगान देने के लिए सस्ते मूल्य पर अनाज बेचना पड़ता था।

दहसाला प्रणाली

मुगलकालीन लगान व्यवस्था के सभी तथ्यों का ऊपर विवेचन किया जा चुका है फिर भी अकबर के समय प्रारम्भ की गई दहसाला प्रणाली जिसे फारसी में फरावां रंज रफ्ती कहते थे। उसका सांगोपांग वर्णन करना आवश्यंक है। अकबर के दीवान राजा टोडरमल, जिसने भूराजस्व व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई उसने राजस्व के सही निर्धारण के लिये दहसाला प्रणाली प्रारंभ की। दहसाला प्रणाली का अर्थ था कि पिछले दस वर्षों की औसत पैदावार और कीमतों के आधार पर लगान तय करना। यह दहसाला प्रबंध ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्तर्गत लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा प्रारंभ भूमि बन्दोबस्त से सर्वथा भिन्न है। लार्ड कार्नवालिस के दस वर्षीय बन्दोबस्त को स्थाई बन्दोबस्त भी कहा जाता है जिसका अर्थ है कि अधिकतम बोली के आधार पर लगान वसूल करने को ठेका दस वर्ष के लिए किसी व्यक्ति विशेष को देना। जबकि दहसाला में विगत दस वर्षों की दस्तूर में वर्णित उपज व कीमत के औसत के आधार पर किसी भू-क्षेत्र का लगान तय किया जाता था।[1] दहसाला प्रणाली की घोषणा शासन के चौबीसवें वर्ष (1571) में हुई। दहसाला प्रणाली का जो रूप सामने आया वह शेरशाह के द्वारा चलाई जब्ती जो लाहौर से इलाहाबाद तक के क्षेत्र में अकबर के आरम्भिक शासन में लागू थी से भिन्न थी। बैरम खाँ के संरक्षण के काल में जमीन के दावेदारों की संख्या बहुत बढ़ गई इसलिये जमा को कृत्रिम रूप से बढ़ा चढ़ा कर पेश किया गया। फलतः कागजी आय और वास्तविक आय में अन्तर हो जाने से अमीरों में असन्तोष फैल गया। इसकी चर्चा की जा चुकी है।[2] दहसाला प्रारम्भ करने के पूर्व अकबर ने भू-राजस्व के क्षेत्र में अनेक सुधार किए जिनका विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है। इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि 1579 तक जमीन की पैदावार, स्थानीय कीमत आदि के बारे में निरीक्षण तथा जांच पड़ताल पूरी हो गई थी। उस अनुभव के आधार पर देय लगान को हलकों में बाँट दिया गया। ये हलके दस्तूर कहलाते थे। अबुल फज़ल ने लिखा है कि अब राजस्व की मांग का आधार केवल एक बार की उपज न होकर वरन् जोते बोए गये खेतों के रकबे और उनका फसलों को ध्यान में रख कर तय की गई नकद दरों की पूरी शृंखला थी। इस व्यवस्था से राज्य को यह लाभ हुआ कि ज्यों ही फसलों की रोपाई बोआई पूरी होती थी और जोते-बोए गये क्षेत्र की नाप पूरी होती थी वैसे ही

---

1. शर्मा, एस० आर०, *पू० उद्०*, पृ० 73
2. चन्द्र, सतीश, *मध्यकालीन भारत*, पृ० 149

राज्य को संभावित आय का अनुमान लग जाता था। एक हद तक यह व्यवस्था किसानों के लिए भी लाभप्रद थी क्योंकि उन्हें भी देय राशि का पता लग जाता था। लेकिन खेती बाड़ी को नुकसान होने की दशा में किसान को हानि उठानी पड़ सकती। जबकि प्राकृतिक आपदा के समय सरकार राहत कार्य करती थी। लगान में रियायत आदि देने की व्यवस्था थी।

विभिन्न फसलों का मूल्य जिस प्रकार से निर्धारित किया गया वह प्रक्रिया काफी जटिल थी। एक आधुनिक अध्ययन के अनुसार औसत कीमतें उन कीमतों के औसत पर आधारित नहीं थीं जिनको ध्यान में रख कर पिछले दस सालों की उत्पादकता और स्थानीय मूल्यों का हिसाब नई जानकारी के आधार पर नये सिरे से लगाया गया। उसके बाद उसका औसत निकाला गया। लेकिन नकदी फसलों तथा उच्च कोटि की फसलों के मामले में जैसे-कपास, नील, गन्ना, तिलहन, पोस्त, सब्जियों के बारे में इस नियम का अनुसरण नहीं किया गया। इनके मूल्य घटते बढ़ते रहने के कारण इन पर सदैव नकद कर (जब्त) निर्धारित और वसूल किया जाता था।

भू-राजस्व, राज्य की आय का प्रमुख स्रोत होने के कारण कर का सबसे अधिक दबाव किसानों पर था। जिसे लगान के साथ-साथ कानूनगो, मुकद्दम, पटवारी का हिस्सा तथा गाँव के रख-रखाव के लिये धन देना पड़ता था। किसान को यह कर दण्डस्वरूप भरना पड़ता था अन्यथा बेदखली से लेकर प्राण दण्ड भी दिया जा सकता था। जबकि मुगलकाल में लगान न देने पर किसानों की बेदखली का उल्लेख नहीं मिलता।

अकबर की दहसाला प्रथा का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि वह जमींदारों का सहयोग प्राप्त करने में सफल रहा। जमींदारों का सहयोग प्राप्त करने के लिए अकबर ने उन्हें उनके नियन्त्रण वाले क्षेत्रों में पारम्परिक कर वसूल करने की छूट दे दी, और साथ ही मालगुजारी की वसूली का काम भी उन्हें सौंप दिया। इस उगाही के लिए उन्हें एक प्रतिशत वसूली का भाग भी दे दिया। दहसाला पद्धति के इस प्रकार प्रमुख तत्त्व थे—लगान का नकदी में वसूल करना; भूमि की नाप गज-ए-इलाही से करना, गज की लम्बाई निश्चित करना; पैमाईश के लिए जरीब के स्थान पर लोहे की जंजीर का प्रयोग; भूमि की ईकाई बीघा तथा बिसवा का तय करना; दहसाला ब्यौरे के आधार पर लगान का स्थायी निर्धारण; किसान के साथ लगान की अदायगी का पट्टा करना था।

भू-राजस्व प्रशासन का प्रमुख अधिकारी दीवान-ए-आला था। प्रान्तों में यह कार्यप्रान्तीय दीवान देखता था। सरकार में मालगुजारी वसूल करने का काम अमल गुज़ार करता था। परगने में आमिल, कानूनगो तथा आमीन प्रमुख राजस्व अधिकारी थे। गाँव (मौजा) में मालगुजारी वसूल करने का काम मुकद्दम तथा पटवारी करता था। इस तरह गाँव से लेकर केन्द्र तक भू-राजस्व अधिकारियों का जाल बिछा हुआ था।

जहाँगीर के शासन काल में बादशाह अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई भू-राजस्व व्यवस्था का अनुपालन होता रहा। लगान का निर्धारण 'जब्ती' से किया गया। बंगाल में जो नये प्रदेश विजित किए गये वहाँ पर भी भूमि की नाप करा कर जब्ती प्रथा लागू कर दी गई। गुजरात के कुछ भाग में इसको लागू किया गया। किसानों को यह छूट दी गयी कि अगर उन्हें जब्ती की दर अधिक लगे तो वह अपनी उपज का 1/3 राजस्व जमा कर दें। अकबर के समय राजस्व अधिकारियों द्वारा वसूली के आदेशों का जहाँगीर के समय दुरुपयोग होने लगा था।[1] जहाँगीर ने चौधरी को लगान का एक प्रतिशत वसूली शुल्क तथा कानूनगो को 2 प्रतिशत शुल्क लगान वसूल कर खजाने में जमा करने पर देने का निर्देश दिया। प्रत्येक फसल का ब्यौरा दर्ज करने और प्रस्तुत करने का आदेश दिया।

1630 में भयंकर अकाल पड़ गया। इस समय मुगल शासक शाहजहाँ था। जब्ती प्रथा के लिये यह परीक्षा की घड़ी थी। शाहजहाँ ने जो राहत दी वह कुल 1 प्रतिशत थी। जब्ती प्रथा उस समय काम नहीं कर सकी। तब लगान निर्धारण की जब्ती के अतिरिक्त स्थानीय पद्धतियों कनकूत, नस्क आदि प्रयोग में लाई गई। अकबर ने राजस्व अधिकार तथा काश्तकार के मामलों को सुलझाने के लिये प्रत्येक सूबे में एक आमीन (मध्यस्थ) नियुक्त किया था परन्तु शाहजहाँ को प्रत्येक सरकार में एक आमीन नियुक्त करना पड़ा। करोड़ी अपने राजस्व के कार्य के साथ फौजदार के कार्यालय से सम्बद्ध होकर आमीन के ऊपर हो गये। करोड़ी के लगान वसूली का 5 प्रतिशत दिया जाने लगा। बाद के दिनों में शाहजहाँ ने सरकारों के अन्तर्गत परगनों का पुनः संगठन किया और प्रत्येक चकले में एक आमीन नियुक्त किया।[2]

औरंगजेब के शासन काल में जब्ती, कनकूत और बटाई से लगान का निर्धारण होता था। मीरात-ए-अहमदी के अनुसार गुजरात में नास्क प्रथा प्रचलित थी। लगान निर्धारण करने का कर 1/2 प्रतिशत से 1/7 प्रतिशत तक लिया जाता था। अकबर के समय अजमेर में यह सबसे कम था यहाँ यह कर नकद दिया जाता था। सिन्ध और कश्मीर में राजस्व उपज का 1/3 था। विदेशी यात्रियों ने इसे 2/3 लिखा है जो भ्रामक है। उड़ीसा में धान प्रमुख फसल थी और राजस्व उपज में दिया जाता था वसूल की गई उपज को सूबेदार नगदी में बदल कर खजाने में भेजता था। हासिम खाँ जो 1661-63 तक उड़ीसा का दीवान था उसने राजस्व पहले दुगना फिर तिगुना कर दिया। जिससे जमीन उजड़ गई। औरंगजेब ने दीवान हासिम खाँ को हटा दिया। काश्तकारों को मुआवजा देने की व्यवस्था की गई।

---

1. शर्मा, एस० आर०, *पू० उद्०*, पृ० 93
2. *वही*, पृ० 93

मुगलकालीन राजस्व व्यवस्था के विवरण से स्पष्ट है कि इसे व्यवस्थित तथा संगठित करने का कार्य अकबर ने अपने योग्य दीवान राजा टोडरमल की सहायता से किया। जिसकी प्रमुख विशेषता थी—भूमि का सर्वेक्षण, इलाही गज तथा बीघा और बिस्वा का मानकीकरण, जरीब अर्थात् रस्सी के स्थान पर लोहे की कड़ी व बांस से बनी जंजीर का प्रयोग, भूमि का विभाजन, खेती को प्रोत्साहन, दहसाला प्रणाली के आधार पर लगान का निर्धारण, दस्तूर अमल का प्रर्वतन तथा जब्ती खसरे तैयार करना। किसान के साथ व्यक्तिगत पट्टा एवं कबूलियतनामा निश्चित करना। दुर्भिक्ष में भू-राजस्व में छूट तथा तकावी बांटना। खेती के विस्तार के लिये सिंचाई की व्यवस्था करना जिसमें नहरें, कुएं, तालाब खुदवाना प्रमुख थे। अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई व्यवस्था ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत पर प्रभुत्व के समय तक थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ चलती रही।

डॉ० विसेन्ट स्मिथ जिन्होंने मुगल शासन का आलोचनात्मक अध्ययन किया, ने लिखा है कि अकबर का भू-राजस्व प्रशंसनीय तथा सही सिद्धान्तों पर आधारित था। अधिकारियों को दिए गये निर्देशों में सभी आवश्यक बातें विस्तारपूर्वक दी हुई हैं। भू-राजस्व के विद्वान मोरलैंड ने लिखा है कि मुगलकालीन राजस्व व्यवस्था ब्रिटिश कालीन व्यवस्था के समान थी तथा कुछ बातों में पूर्णतया आधुनिक थी। मुगलकालीन राजस्व व्यवस्था का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि उसने धार्मिक करों को गौण बनाकर एक सार्वभौम कर व्यवस्था लागू करने का प्रयास किया जिससे कर का भार सभी वर्गों तथा सभी प्रकार की प्रजा व्यापारी, उद्योग में संलग्न तथा किसानों पर समान रूप से पड़ा। किसी विशेष वर्ग को इससे मुक्त नहीं रखा गया। जिसमें यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि अनुदान भूमि मदद-ए-माश का स्वत्व अनुदान प्राप्तकर्त्ता के पास नहीं था और न वह उसे बेच सकता था तथा न ही हस्तानान्तरण कर सकता था। उसे आय को उपभोग करने का अधिकार था। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म कभी राज्य पर हावी न हो सका जैसा कि पश्चिम में ईसाई राज्यों में हुआ और न ही इस्लाम मुगलकाल में राज्य के अन्तर्गत एक अलग इस्लामिक राज्य जैसा ईसाई राज्यों में हुआ (Christian Church was a state within state) बन सका।

●

नवम अध्याय

मुगलों की प्रान्तीय प्रशासनिक व्यवस्था

देहली सल्तनत में सल्तनत के प्रान्तों में विभाजन तथा उनके अधिकारियों के बारे में विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। आन्तरिक विद्रोह तथा वाह्य आक्रमण एवम् केन्द्र में वंशों के बार-बार परिवर्तनों के कारण सल्तनत की सीमाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहा। जिसके कारण प्रान्तों का निश्चित सीमा निर्धारण तथा प्रशासनिक व्यवस्था का संगठन करना संभव नहीं हो सका। जो विवरण प्रशासनिक व्यवस्था के बारे में उपलब्ध हैं उनसे पता चलता है कि सल्तनत में तीन प्रकार के प्रान्त थे; प्रथम क्षेत्रफल में छोटे प्रान्त जिनके प्रान्तपति सुल्तान द्वारा नियुक्त होते थे। यह देहली के आसपास के प्रान्त थे। इनके अधिकारी को इमरात ए तफवीद कहते थे। दूसरी श्रेणी में देहली से दूरवर्ती प्रान्त आते थे जिन पर देहली से सीधे नियन्त्रण रखना संभव नहीं था। जैसे बंगाल का प्रान्त यहां के अधिकारी को इमरात-ए-खस्सा कहा जाता था। तीसरे प्रान्त हिन्दू राजाओं के थे जो सुल्तान को निश्चित कर देते थे। सल्तनत काल में प्रान्तों के प्रभारी को मुक्ती या वली कहा जाता था। प्रान्त को इक्ता कहते थे। उसे प्रशासनिक तथा सैनिक अधिकार प्राप्त थे।[1] कुछ मुक्तियों को जिनके आधीन सामरिक महत्त्व के इक्ता थे उन्हें वली या अमीर कहा जाता था। प्रान्त शिक (सरकार) में विभाजित थे। जिसके प्रशासनिक अधिकारी को शिकदार कहा जाता था। शिक परगनों में विभाजित थे। ग्राम सल्तनत की सबसे छोटी ईकाई थी।

बाबर तथा हुमायूँ का राज्यकाल युद्धों तथा उथल-पुथल से परिपूर्ण था। अतः वह प्रान्तीय, केन्द्रीय अथवा किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था की ओर ध्यान ही न दे सके। उन्होंने पूर्ववर्ती शासकों की प्रान्तीय व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया। मध्ययुग में प्रान्तों को संगठित करने का श्रेय मुगल बादशाह अकबर को है। अकबर ने साम्राज्य विस्तार के लिये जो विजय अभियान किये उनके परिणाम स्वरूप 1580 तक उसने भारत के अधिकांश भागों पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया था। अकबर ने इसी वर्ष 1580 में अपने साम्राज्य का विभाजन 12 सूबों में

---

1. विस्तार से पढ़ने के लिए देखे, बंसल, उ०रा०, *सल्तनतकालीन सरकार तथा प्रशासनिक व्यवस्था*

किया। ये बारह सूबे थे—इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, देहली, काबुल, लाहौर मुल्तान तथा मालवा। इन सूबों की राजधानियाँ भी बनाई गई। अकबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन 1580 में ही क्यों किया इसके बारे में अबुल फज़ल लिखता है कि उसने इस वर्ष दहसाला राजस्व बन्दोबस्त लागू किया था। आईन में लिखा है कि उसने अपने साम्राज्य को 12 सूबों में विभक्त किया। अबुल फज़ल ने स्पष्ट तौर पर लिखा है कि इन सूबों की भौगोलिक सीमाओं में प्रशासनिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन किया गया। अबुल फज़ल के शब्दों में, "His Majesty apportioned the empire into twelve divisions, to each of which he gave the name of subah and distinguished them by the appellation of the *tract of the country or its capital city*."[1] अकबर ने जब बरार, खानदेश और अहमदनगर पर विजय प्राप्त कर ली तो 3 सूबे और बढ़ा दिये गए जिससे अकबर के साम्राज्य में सूबों की संख्या 15 हो गई। उड़ीसा को जीतने के बाद उसे अलग सूबा नहीं बनाया गया वरन् बंगाल सूबे में सम्मिलित कर दिया गया। इसी तरह कश्मीर को जीत कर काबुल में मिला दिया। कंधार को भी काबुल के सूबे में मिला दिया। थट्टा को जीतने के बाद मुल्तान सूबे में सम्मिलित कर दिया। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि इस तरह अन्य प्रान्त भी राज्य में सिमट गये अथवा जोड़ दिये गये। अकबर की सत्ता का केन्द्र हिन्दीभाषी था जिससे अन्य प्रान्त भी उसके निकट आये और भाषायी एकता स्थापित हुई।[2] इस तरह बादशाह अकबर के शासन के अन्तिम वर्षों तक उसका साम्राज्य 15 सूबों में विभाजित रहा।

जहाँगीर ने कांगड़ा को जीत कर मुगल साम्राज्य में मिलाया। परन्तु उसने इसको अलग सूबा न बना कर लाहौर सूबे में संयुक्त कर दिया। बादशाह शाहजहाँ ने निजामशाही के बालाघाट को छोड़ कर सभी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। कश्मीर, थट्टा और उड़ीसा जिनको अकबर ने क्रमशः लाहौर, मुल्तान तथा बंगाल सूबों में मिला दिया था उन्हें अलग करके स्वतन्त्र सूबा बना दिया। इस तरह शाहजहाँ के समय सूबों की संख्या 18 हो गई। शाहजहाँ के द्वारा विजित प्रदेशों के बारे में डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि, Under Shah Jahan the whole of the Nizam Shahi dominions (excepting Balaghat), Berar and a part of Telengana were annexed (1633-36). These three together with Khandesh were constituted into the province of Deccan. But they continued to be treated as Sub-provinces, their governors being responsible to the Imperial Government

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 121
2. शर्मा, रामविलास, *मार्क्सवाद और भारत, तीसरी पुस्तिका*, 1988, पृ० 89–90

through the viceroy of the Deccan. This however, meant no addition to the number of provinces as Ahmadnagar was already a province under Akbar."[1] औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुंडा को जीत कर दो नये प्रान्त बनाये। औरंगजेब के शासन के अन्त तक मुगल साम्राज्य में सूबों की संख्या 20 हो गई। दक्षिण के चार सूबों का एक सूबेदार बनाया जो साधारणतया युवराज होता था। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि सूबों की संख्या 20 हो गई थी, लेकिन "...no regular or systematic government was ever established in them"[2] मुगल सम्राज्य के अन्त तक सूबों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

आईन-ए-अकबरी में सूबों की भौगोलिक सीमाओं का वर्णन किया गया है और उसके अतिरिक्त वहां की जलवायु, मौसम, उपज, फल-फूल, लोगों की सामाजिक दशा रहन-सहन का भी संक्षिप्त विवरण दिया है। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि मुगल साम्राज्य के भू क्षेत्रों का एक और भी विभाजन था।[3] वह था खालसा, भूमि, सरयूगल तथा वतन जागीर। इनका भू-राजस्व व्यवस्था में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। इन सभी के भू क्षेत्रों को अलग-अलग न दिखा कर सूबों में ही दिखाया गया है। वतन जागीर तथा स्वायत्त राजाओं को सरकारों और परगनों की सीमा में सम्मिलित कर लिया था। उदाहरण के लिए मेवाड़ सरकार चित्तौड़ में शामिल थी और कोटा का उल्लेख रणथम्भौर के एक परगने के रूप में हुआ। जयपुर सरकार अजमेर का एक परगना थी। बंगाल सूबे में 24 सरकारें थीं जिनकी निर्धारित जमा लगभग 1,1/2 करोड़ रुपये आँकी गई थी। इस तरह पूरे साम्राज्य को एक ईकाई /एकता के सूत्र में पिरो दिया गया। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि मुगल बादशाह इनके आंतरिक मामलों में साधारणतया हस्तक्षेप नहीं करते थे। सन्धि की शर्तों के अनुसार जो भी निश्चित होता उसको पूरा करने के अतिरिक्त वह राजा अपने राज्य में शासन करने के लिये स्वतन्त्र थे। "Apart from the treaty obligations which the chiefs had to fulfil towards their sovereign, they enjoyed full freedom in internal administration as well as in all other matters of a public or private nature, and enjoyed a far more independent and honourable position than the present native princes do under their sovereign (British)."[4]

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॅलिटी*, पॉ० 121
2. *वही*, पृ०122
3. *वही*
4. *वही*, पृ० 125

प्रान्तीय अधिकारी

प्रान्तीय शासन व्यवस्था तथा प्रान्तीय अधिकारी का बादशाह के साथ सम्बन्ध एक प्रक्रिया के द्वारा विकसित हुआ जो दो तत्त्वों पर आधारित था; पहला राजतन्त्र के स्वरूप और आधारभूत सिद्धान्त तथा दूसरा अपने पूर्व के शासकों द्वारा कार्यपालिका की संरचना।[1] अफगान राजतंत्र में primus interpares अर्थात् सुल्तान अमीरों में से एक था। जिससे केन्द्र और प्रान्तों के बीच आपसी सम्बन्ध ढीले संघ के तारों से जुड़े थे। प्रान्त अपनी परिसीमा में स्वायत्तशासी थे। अकबर ने जिस राजतंत्र की स्थापना की वह बादशाह को दैवी सत्ता सम्पन्न इलाही नूर के विशेष पद प्रतिष्ठित करता है। जिसकी कोई भी अमीर समता नहीं कर सकता। अकबर ने जो साम्राज्य स्थापित किया उसमें केन्द्र सार्वभौम था और विभिन्न भू-क्षेत्रों को जीत कर एक संगठित एकीकृत साम्राज्य की स्थापना की। जिसे प्रशासनिक सुविधा तथा भू-राजस्व की 'जमा' और हासिल के लिये विभिन्न भागों में बाँटा गया। अतः प्रान्तों का उद्देश्य तथा संरचना भी उसी प्रकार की थी जैसी केन्द्र की। डॉ० सरन ने इस पर विस्तार से चर्चा करते हुए लिखा है कि, "The aim and spirit of the provincial government was, of course, the same as that of the Imperial government, i.e., to be 'continually attentive to the health of the body politic and to provide to its people protection and safety from external danger and internal oppression and insure their economic welfare and freedom for self improvement."[2]

प्रान्तीय सूबेदार

अकबर ने शासन काल में प्रान्तों के अधिकारी को सिपहसलार कहा जाता था। बाद में उन्हें निजाम कहा जाने लगा। डॉ० सरन के अनुसार सिपहसालार बादशाह का प्रतिनिधि Vice-regent होता था। भिन्न-भिन्न सूबों की स्थिति, महत्त्व और आवश्यकता के अनुसार सूबेदार नियुक्त किए जाते थे। महत्त्वपूर्ण सूबों में शहजादे अथवा बहुत ही योग्य और विश्वसनीय व्यक्ति को सूबेदर नियुक्त किया जाता था। सूबेदारों की नियुक्ति बादशाह की आज्ञा से होती थी जिसे फरमान-ए-साबती Farman-i-Sabati कहते थे। सूबेदार के पद का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता था। पीटर मुंडी ने लिखा है कि स्थानीय सूबेदार एक स्थान से दूसरे स्थान पर साधारणतया 3 वर्ष में स्थानांतरित कर दिए जाते थे। शाइस्ता के विषय में टेवर्नियर लिखता है कि अपना 3 वर्ष का कार्यकाल पूरा करने के बाद शाईस्ता खाँ

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ. 126
3. *वही*, पृ० 126-127

आगरा चला गया और फिर वहीं रहा। डॉ० सरन ने लिखा है कि सूबेदारों का शीघ्र स्थानान्तरण इस बात का प्रमाण है कि वह एक सूबे में अधिक समय तक नहीं रखे जाते थे। अधिकतर बादशाह की कृपा और सूबे की प्रशासनिक आवश्यकता एवं सूबेदार की दक्षता और स्वामिभक्ति इसके निर्धारक घटक थे। जब किसी सूबे का सूबेदार किसी युवराज को बनाया जाता था तब उसके साथ एक सहायक अभिभावक भी नियुक्त किया जाता था जिसे अतालिक ataliq अर्थात् (guide and preceptor) सलाहकार एवं उपराज्यपाल कहा जाता था। डॉ० सरन ने लिखा है कि, सूबेदारों को यह आदेश था कि वह अतालिक की परामर्श से ही कार्य करें। कभी-कभी सूबेदारों की सहायता के लिये परामर्शदात्री समिति भी बना दी जाती थी।[1] जब किसी सूबेदार को अपना पद संभालने में देर होती तो उसके स्थान पर अन्तरिम सूबेदार नियुक्त किए जाते थे जो उसके कार्य सम्हालने तक सूबेदार का काम करते थे। यदि नियुक्त व्यक्ति राजकीय कार्यों, युद्ध अभियानों या सम्राट के निकट रहने के कारण कार्य भार सम्हालने में असमर्थ रहता था तो उसे अपने प्रतिनिधि द्वारा शासन करने की अनुमति सम्राट द्वारा प्राप्त हो जाती थी। कभी-कभी एक उपसूबेदार भी नियुक्त कर दिया जाता था। जून 1645 में दाराशिकोह इलाहाबाद का सूबेदार नियुक्त हुआ परन्तु शाहजहाँ के पास उपस्थित रहने के कारण बाकीबेग को उपसूबेदार नियुक्त किया गया। दाराशिकोह 12 साल की सूबेदारी में केवल एक बार इलाहाबाद गया और वह भी उपनिषदों के फारसी अनुवाद के संदर्भ में। सन् 1586 में बादशाह अकबर ने प्रत्येक प्रांत में दो सिपहसालार नियुक्त करने का प्रयोग किया। अबुल फज़ल के अनुसार उसने यह कदम सूबेदार की सूबे से किसी कारणवश अनुपस्थिति के समय प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए उठाया था। उसका वास्तविक उद्देश्य एक सिपहसालार पर दूसरे का नियन्त्रण या निगरानी रखने का था। यह प्रयोग शेरशाह ने बंगाल में किया था। लेकिन इस व्यवस्था से अनावश्यक विवाद खड़े हो जाने के कारण यह व्यवस्था गौड़ हो गई। कुछ सूबों में जैसे काबुल और आगरा में एक मुसलमान तथा एक हिन्दू राजपूत को संयुक्त कमान सौंपी गई। लाहौर तथा अजमेर में राजपूत सूबेदार नियुक्त किए गये।

सूबेदार प्रान्त में सम्राट का प्रतिनिधि तथा प्रान्त का सर्वप्रमुख अधिकारी था। नियुक्ति के समय सम्राट उसे नए चिह्नों से सम्मानित करके यथोचित प्रतिष्ठा और उपहार देता था। कार्यभार ग्रहण करने से पूर्व उसे एक अनुदेश पत्रक दिया जाता था जिसमें उसके दायित्वों का वर्णन रहता था। अकबर के एक फरमान मिरात-ए-अहमदी मे सूबेदार को 40 प्रकार की सलाह दी गई है। जिसमें सूबेदार के

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*

उत्तरदायित्व, कार्यक्षेत्र, अधिकार, विशेषाधिकार, मर्यादा उसके व्यक्तिगत लौकिक आचार, व्यवहार और कार्य तथा उसके आधीन कर्मचारियों से आज्ञा पालन कराने तथा उनसे सहयोग लेने जैसी बातें हैं। उससे आशा की जाती थी कि वह अपने व्यवहार तथा दैनिक जीवन में आदर्श उपस्थित करेगा। उसे अवांछनीय तत्त्वों से सावधान रहने की सलाह दी गई। उसे अपने गरिमा के अनुरूप कार्य करने को कहा गया। उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने रहन-सहन में आय से अधिक व्यय नहीं करेगा। उसे मितव्ययी, मितभाषी, कम बोलने तथा दिए गये वचनों का अनुपालन करने का आदेश दिया गया।

जनता और सेना का कल्याण सूबेदार के न्यायपूर्ण प्रशासन पर निर्भर था। उससे आशा की जाती थी कि वह अधीनस्थ कर्मचारियों पर नजर रखेगा। इस बात पर ध्यान देगा कि वह अपने दायित्वों का ठीक से निर्वाह कर रहे हैं अथवा नहीं। प्रशासन का कार्य उनसे ठीक से करवायेगा। जहाँ उसे किसी मामले की जांच करनी होगी वह निष्पक्ष रूप से जाँच करके अपना मत देगा। न्याय करते समय वह उदारता से कार्य करेगा अधिक कड़ी सजा नहीं देगा जैसे—चमड़ा उघड़वाने, हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाने आदि दण्ड उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं थे। मृत्यु दण्ड नहीं दे सकता था। ये दण्ड देने का अधिकतर केवल बादशाह का था। जहांगीर ने अपने शासन के छठें वर्ष में इस तरह के निर्देश की अधिसूचना जारी की थी। उससे आशा की जाती थी कि वह अपराधों की रोकथाम के लिये कड़े कदम उठाये तथा पुलिस तथा गुप्तचर विभाग में योग्य, निष्ठावान व्यक्तियों की नियुक्ति करे। सिपहसालार को किसी धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का आदेश दिया गया। पठन-पाठन को प्रोत्साहन दें।

सूबेदार को अपना कार्य करने में बुद्धिमान लोगों से परामर्श तथा सहायता लेने को कहा गया। अकबर के एक फरमान में कहा गया कि यदि बुद्धिमान लोग न उपलब्ध हों तो अन्य लोगों से परामर्श करे। कभी-कभी जो काम बुद्धिमान नहीं कर पाते सामान्य सूझबूझ वाले कर देते हैं। सूबेदार को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति करने तथा उच्च अधिकारियों के कार्यों की संस्तुति भेजने का अधिकार था।

प्रजा की खुशहाली पर ही साम्राज्य की स्थिरत निर्भर करती थी। इस सम्बन्ध में मुगल सरकार ने स्पष्ट रूप से निर्देश दिया कि वह प्रजा व किसानों को प्रोत्साहित करे जिससे कृषि का विस्तार हो तथा वह मन लगाकर उत्पादन कार्य करें। खेती के विस्तार के लिए जलाशय, नहर, कुएं, तालाब, पोखरी खुदवाये। बगीचे लगवाये। सरायों, फूलों, सड़कों का निर्माण कराये। जीर्णशीर्ण सड़कों, पुराने निर्माणों की मरम्मत करवाये तथा देखरेख करें।

सूबेदार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य जमींदार से राजकर व लगान वसूल करना था। जमींदार की शक्ति और उसके व्यवहार के अनुसार सूबेदार सेना का प्रबंध करता था क्योंकि कभी-कभी जमींदार विद्रोह भी कर देते थे जिन्हें दबाने के लिये सैनिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती थी। टकराव के स्थान पर शान्ति समझौते से कार्य करने की सूबेदार से अपेक्षा की जाती थी। सदैव टकराव टालने का प्रयास किया जाता था। इससे ऐसा लगता है कि सूबेदारों और जमींदारों के बीच टकराव अथवा जमींदारों द्वारा लगान न देने की स्थितियाँ बन जाती होंगी। केन्द्र की शक्ति पर जमींदारों का आज्ञापालक या उदण्ड होना निर्भर करता होगा। सभी प्रान्तों में स्थितियाँ एक सी नहीं थी। उसी प्रकार सभी सूबेदारों की प्रस्थिति और मान-सम्मान भी एक सा नहीं था। उदाहरण के लिए राजा टोडरमल जब गुजरात के सूबेदार थे तो उन्हें राजपूत सरदारों के साथ सन्धियाँ करने और उन्हें मनसब प्रदान करने का अधिकार था। डॉ० पी०सरन के अनुसार सूबेदारों के पास यह अधिकार होना दुर्लभ था।

सूबेदारों के अधिकारों पर कुछ प्रतिबंध भी थे। नियमों का पालन न करने पर उन्हें अपदस्था किया जा सकता था, दण्ड दिया जा सकता था। यह बात युवराजों पर भी लागू होती थी। सूबेदार शाही दरबार की नकल पर दरबार नहीं लगा सकते थे, न ऊँचे तख्त पर बैठ सकते थे न सेवकों को उपाधियाँ दे सकते थे, न ही झरोखा में दर्शन दे सकते थे। उन्हें यह अधिकार नहीं था कि अपने अफसरों को पहरेदार रखने की अनुमति दें। नमाज का नेतृत्त्व करने और कर लगाने का उन्हें अधिकार नहीं था।

न्यायधीश के रूप में सूबेदार के प्रारंभिक एवम् अपील दोनों के अधिकार थे। साधारणतया प्रारम्भिक मुकदमें का वह अकेला जज होता था। अपील के मुकदमों की सुनवाई प्रान्तीय काज़ी तथा सूबेदार मिलकर करते थे।.मृत्युदण्ड देने का सूबेदार को अधिकार न होने के कारण वह ऐसे मुकदमों को केन्द्र को भेज देता था। यदि कभी अपराधी सुनवाई के समय विद्रोह करें तो उसे मौत के घाट उतारने की अनुमति थी। इस तरह सूबेदारों के अधिकार, दायित्व तथा सीमाएँ व्यापक थीं। "Thus his duties were very comprehensive involving as they did his general responsibility for the common weal and an oversight of the government functionaries of the Subah."[1]

सूबेदारों की कार्यप्रणाली और व्यवहार एक विवाद का विषय है। अकबर के सुदृढ़ शासन में सूबेदार अनुशासित थे लेकिन शाहजहाँ के शासन के अन्तिम वर्षों में तथा औरंगजेब के शासन काल में सूबेदारों के कतिपय अत्याचारों की शिकायत आने

---

1. सरन, पी०, *वही,* पृ०128

वाले यूरोपिय यात्रियों ने की है। यूरोपिय यात्रियों की यह शिकायतें उनके द्वारा माँगी जाने वाली विशेष छूट व रियायतों तथा सुविधाओं को न देने के कारण भी हो सकती है। डॉ० अनिरुद्ध रे के अनुसार संभव है कि 1680 के दशक में औरंगजेब ने सूबेदारों के प्रति नरम व्यवहार प्रारंभ कर दिया हो क्योंकि वह विभिन्न युद्धों में फंसा हुआ था। युद्धों के लिए उसे धन की आवश्यकता थी। यह धन शायद सूबेदार ही उपलब्ध कराते रहे होंगे। इसके अतिरिक्त भारत और यूरोपिय देशों के नियम कानूनों में बहुत अन्तर था। यूरोपिय कम्पनियों को मुगल शासन के नियम कानून नहीं पता थे और अपने व्यापारिक लाभ के लिये वह अधिक से अधिक सुविधायें चाहते थे और उनका न मिलना ही उनकी शिकायतों का कारण रहा हो। जबकि मुगल शासन उनके प्रति बहुत उदार था।

प्रान्तीय दीवान

सूबे का दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकारी दीवान था। दीवान का पद सूबेदार से नीचे था किन्तु वह उसका अधीनस्थ अफसर नहीं था। दीवान की नियुक्ति दीवान-वजीर की सिफारिश पर सीधे केन्द्र से की जाती थी। उसका कार्य था खेती-बाड़ी को प्रोत्साहन देना, ईमानदार तथा व्यवहार कुशल लोगों को चुन कर उन्हें अमीन, करोड़ी और तहसीलदार के पद पर नियुक्त करना ताकि वे लोग रैयत को ठीक समय पर लगान भरने के लिए तैयार कर सकें। अबुल फज़ल प्रान्तीय दीवान के बारे में कुछ नहीं लिखता लेकिन उसके कार्यों के बारे में बाद के रिकार्ड से अनुमान लगाया जा सकता है। प्रान्तीय दीवान का काम अत्यन्त महत्वपूर्ण था। राजस्व एकत्र करना, रोकड़ बही और रसीदों के हिसाब का लेखा जोखा रखना, वित्तीय मामलों और नकदी की केन्द्रीय दीवान को पाक्षिक रिपोर्ट भेजना, वेतन बांटना, जागीरों के वित्तीय पक्ष की देखभाल करना उसके मुख्य दायित्वों में था। दीवान का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य आमिलों की सहायता से खेती का विस्तार और उसमें सुधार करना था। वह आमिलों की गतिविधियों पर नजर रखता था। अबवाब की निगरानी तथा तकावी की वसूली, विभिन्न विभागों के व्यय का हिसाब किताब रखना उसके कार्यों में आता था। दस्तूर अमल (शासकीय नियमावली) के अनुसार उसके कार्य निम्नलिखित थे—

1. खालसा महालों की मालगुजारी वसूल करना;
2. वसूली और बकाया का हिसाब किताब रखना;
3. मदद-ए-माश का जमीनों को पर्यवेक्षण करना;
4. प्रान्त के अधिकारियों का उनके कार्य के अनुसार वेतन निश्चित करना एवं वितरण करना;

5. खालसा सरकारों में शाही सनदों द्वारा वितरित जागीरों के वित्तीय प्रबंध की देखरेख करना;
6. कृषि की उन्नति को प्रोत्साहन देना;
7. कोषागरों पर कड़ी निगरानी रखना, जिससे कोई व्यक्ति बिना प्रमाणित आज्ञा पत्र के रुपया न निकाल सके;
8. यह देखना कि कोई व्यक्ति निषिद्ध कर (अबवाब) न वसूल करे;
9. आमिलों के कार्यों और हिसाब-किताब की कड़ी जाँच-पड़ताल एवं भ्रष्ट आमिलों को पदच्युत करने की संस्तुति करना;
10. बकाया लगान तथा तकावी की वसूली करना;
11. विभिन्न प्रान्तों के बजट तथा व्यय पर नियन्त्रण रखना;
12. प्रान्तों की टकसाल की देखरेख करना।[1]

डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि, "Numerous records concerning executive, revenue, irrigation, agricultural and charities departments were maintained in Divan's office."[2] वह अभिलेख जो प्रान्तीय दीवान के कार्यालय में सुरक्षित रहते थे इस प्रकार हैं :

1. कार्यपालिका विभाग से सम्बन्धित अभिलेख तथा महालों और खालसा भूमि की मालगुजारी की (कानूनगो और जमींदारों की मुहर और हस्ताक्षर सहित) अलग-अलग मिसलें। करोड़ी की मुहर सहित रोजनामचा व आवारिजा समेत अनुमान वसूली और व्यय का अभिलेख।
2. जागीरी जमीनों के महालों के विभाग से सम्बन्धित, सम्राट से विशेष मंजूरी प्राप्त वेतन दरों के अनुसार रखे अभिलेख। महालों के कागजात जिनमें अवशिष्ट रोकड़ उसी प्रकार दिखलाई जाती थी।
3. प्रत्येक परगने में कुँओं की गणना करने वाले विभाग का सम्बन्धित कानूनगो द्वारा हस्ताक्षर किया हुआ अभिलेख।
4. मुखियों, कानूनगो और मुकद्दमों को इनाम और कमीशन देने वाले विभाग से संबंध रखने वाले अभिलेख।
5. कर्मचारियों के हस्ताक्षर में वस्तुओं के भावों की विवरणिका।
6. करोड़ी और फोतादार की मुहर सहित खजाने में जमा की हुई धनराशि का हिसाब-किताब।
7. आय-व्यय का रोजनामचा

---

1. सरकार, जे०एन०, *पू० उद्०*, पृ०53-54
2. सरन, पी०, *पू० उद्०*, पृ०129

8. दरोगा और मुशरिफ की मुहर लगा सरकरी खजाने, इनाम, अनुदान क विवरण।[1]

प्रान्तीय दीवान न्यायिक कार्य भी करता था। वह न्यायाधीश के रूप में राजस्व सम्बन्धित मुकदमों का निर्णय करता था। सरकार तथा परगनों के राजस्व सम्बन्धी मुकदमों के लिए वह अपील की अदालत था। उसके निर्णयों के विरुद्ध दीवान-ए-आला से अपील की जा सकती थी।

सूबेदार और दीवान के कार्यों के विवरण से स्पष्ट है कि सूबों में वह दो स्वतन्त्र प्रभारी थे। कोई भी दूसरे आधीन न होकर एक-दूसरे के पूरक तथा सहायक थे। दोनों ही एकप्रान्त में दो समानान्तर और दूसरे से स्वतन्त्र संगठन थे। दीवान प्रान्तीय राजस्व अधिकारी था जो केन्द्र के दीवान-ए-आला के निर्देशन में काम करता था तथा उसी के प्रति उत्तरदायी था। प्रान्त के सभी राजस्व अधिकारी अमल गुजार, पटवारी पटेल आदि उसके प्रति उत्तरदायी थे। फौजदार से लेकर शिकदार, ग्राम चौकीदार तक सूबे से सिपहसलार के आधीन थे। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि यह एक प्रकार का द्वैध शासन था। उनके शब्दों में, "Apart from this, the Divan and Governor were so independent of each other, that they represented a sort of dyarchy in the province and indeed exercised a watch and supervision over each other's activities."[2] कभी-कभी दोनों के बीच मतभेद हो जाता था। ऐसी स्थिति में एक का स्थानान्तरण कर दिया जाता था। पद के हिसाब से सूबेदार दीवान से बड़ा था। सूबेदार अक्सर युवराज या राजपरिवार का सदस्य होता था। वह सम्राट का प्रतिनिधि होने के कारण सम्राट के सम्पर्क में रहता था। उसकी प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान दीवान से ज्यादा था।

प्रान्तीय सद्र

प्रान्तीय प्रशासन का तीसरा अधिकारी सद्र एवं काजी था। इसकी नियुक्ति केन्द्र के सद्र-उस-सूदर की परामर्श से स्वयं बादशाह करता था। इसका कोई निश्चित कार्यकाल नहीं था। इसका स्थानान्तरण भी किया जा सकता था। स्थानान्तरण बादशाह की आज्ञा से होता था। इसका मुख्य दायित्व इस्लाम धर्म को मानने वालों के धार्मिक हितों की रक्षा करना था। मुसलमानों में धर्म का अनुपालन कराना, शिक्षा का व्यवस्था करना, मदद-ए-माश तथा सरयूगाल और वजीफे की देखभाल करना था। वजीफे के लिये संस्तुति करना। अनुदानों में उत्तराधिकार तथा

1. सरन, पी०, *प्राविंशियल गवर्नमेन्ट ऑव दी मुगलस*, पृ० 178-179
2. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 129

अन्य विवाद उठने पर उनमें समझौता अथवा फैसला कराना प्रान्तीय सद्र का दायित्व था। प्रान्तीय न्याय विभाग प्रांत के काज़ी के आधीन होता था लेकिन सद्र भी यह कार्य देखता था। जिला स्तर के काजियों की नियुक्ति के लिये आलिमों के नाम भेजता था। उसे मीर-ए-अदल भी कहा जाता था। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि, "It appears that the posts of Sadr, the Qazi and the Mir-Adl were generally combined and entrusted to one and the same person, although some instances are available of these offices being held by different persons. References to Muftis are also of frequent occurance in connection with judicial administration. None of these, however, show that the Mufti was a regular officer. He seems to have been a sort of unofficial legal referee recognised by public opinion by virtue of his great knowledge of the religious law."[1] अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि सद्र, काजी तथा मीर अदल एक ही व्यक्ति होता था जो धर्म और न्याय तथा शिक्षा का कार्य देखता था। यद्यपि मुगल इन तीनों पदों पर अलग-अलग व्यक्तियों को भी नियुक्त किये जाने का उल्लेख है परन्तु यह हमेशा एक सा नहीं दिखाई देता। मुफ्ती नामक व्यक्ति जो न्यायाधिक़रण से सम्बन्धित था उसका अलग से वर्णन मिलता है। वह एक गैर सरकारी अधिकारी रहा होगा जो अपनी विद्वता और धार्मिकता के लिये समाज में सम्मानित था।

प्रान्तीय बख्शी

प्रान्तों में एक बख्शी तथा वाकियानवीस होता था। इनकी नियुक्ति केन्द्र के बख्शी की संस्तुति पर बादशाह करता था। इसके नियुक्ति पत्र पर बख्शी की मोहर लगी रहती थी। बख्शी का प्रमुख कार्य सेना की देखभाल करना था। सेना में भर्ती, घोड़ों का दागने, सैनिकों का हुलिया दर्ज करवाने, सैनिकों में अनुशासन रखने, सैनिकों के लिए साज समान की पूर्ति करना आदि उसके कार्य थे। वह प्रान्त के मनसबदारों की सूची रखता था। उनके सैनिक, घोड़ों तथा अन्य पशुओं और सैनिक सामान का वार्षिक निरीक्षण करके मनसब की शर्तों के पूरा होने का प्रमाण पत्र देता था। इसी आधार पर उन्हें प्रान्तीय दीवान से वेतन प्राप्त होता था। कार्य से अनुपस्थित रहने के लिए मनसबदारों को प्रान्तीय बख्शी से छुट्टी लेनी पड़ती थी। बिना अनुमति के अवकाश पर चले जाने वाले को भगोड़ा घोषित कर दिया जाता था। उन्हें दण्ड भुगतना पड़ता था। मनसबदार की मृत्यु होने पर प्रान्तीय बख्शी का यह कर्तव्य था कि वह उनकी जागीर अपने कब्जे में ले ले।

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 129

वाकियानवीस का कार्य प्रान्त की सभी घटनाओं की रिपोर्ट भेजना था। बख्शी प्रान्त का वाकियानवीस भी था। वह नाजिम (सूबेदार) की आधीनता से मुक्त अधिकारी था। जहाँगीर की आत्मकथा में अहमदाबाद के बख्शी का उल्लेख है जिसने वहाँ के सूबेदार अब्दुल्ला खाँ के बारे में बादशाह को जो रिपोर्ट भेजी उससे सूबेदार बख्शी से रूष्ट हो गया। जहाँगीर ने अब्दुल्ला खाँ को सूबेदारी से हटा दिया। अंग्रेज व्यापारी हॉकिंस के साथ सूरत में दुर्व्यवहार हुआ जब वह दरबार में पहुँचा तो उसे यह जानकार बहुत आश्चर्य हुआ कि बादशाह को इसकी पूरी सूचना मिल चुकी थी। डॉ० पी० सरन ने Provincial Government of the Mughals में लिखा है कि "The bakhsi being generally also the Waqia Navis had a very strong instrument of power in his hands. The governor could not afford to show any high handedness in his affairs nor to loose his confidence."[1]

प्रान्तीय खुफियानवीस

इसके अतिरिक्त एक अलग से खुफिया विभाग था कि अगर बख्शी कोई सूचना छिपा दे तो खुफियानवीस उसे बादशाह तक पहुँचा दे। यह एक समानान्तर सूचना विभाग था जो एक दूसरे पर अंकुश लगाने का भी काम करता था। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि, "As an instance of the efficiency of this department, it may be stated that even the highest officials including the governors and divans lived in constant awe thereof, because they were suitably punished if any report were received against them and were found to be true."[2] प्रत्येक विभाग में खुफिया नवीस अथवा सवानीह नवीस रहते थे। यह विभाग तथा अधिकारियों के बारे में आवश्यक जानकारी बादशाह तक पहुँचाते थे। दीवान और सूबदारों के आपसी झगड़ों के समाचार बादशाह तक पहुँचाने का कार्य भी यही करते। बाद के वर्षों में ये दरोगा-ए-डाक का कार्य भी करने लगे थे। यह डाक ले जाने का काम हरकारे तथा अखबारनवीस करते थे। मुगल काल में यह खुफिया विभाग शासन की कुशलता की रीढ़ था। बादशाह अकबर ने इस विभाग का पुनर्गठन करते हुए यह नियम बना दिया था, "..a rule that events of the subhah be reported according to the boundaries of each."[3] यूरोपिय यात्रियों ने मुगल शासकों के गुप्तचर विभाग की दक्षता की प्रशंसा की है। हॉकिंस की घटना का उल्लेख पहले किया जा चुका है। थेवनोट (Thevnot) ने लिखा है कि प्रत्येक सरकारी कार्यालय में वाकिया

1. वर्मा, ह० (सं.), पृ० 408-410
2. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 130
3. सरन, पी०, *प्राविंशियल गवर्नमेन्ट ऑफ दी मुगलस*, पृ० 186

नवीस रहते थे जो केवल बादशाह के प्रति उत्तरदायी थे और सभी मुख्य समाचारों की रिपोर्ट बादशाह तक पहुँचाते थे। मनुची ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि खबरनवीस दीवान के माध्यम से समाचार बादशाह तक पहुँचाते थे। बादशाह रात में इन सब खबरों को सुनता था।[1]

मीर बहर

प्रान्तों के जलमार्गों का ध्यान रखने के लिये मीर बहर की नियुक्ति की जाती थी। उसका कार्य नदियों के घाटों, पुलों का निर्माण, बंदरगाहों आदि की देखभाल करना था। मीर बहर अक्सर सार्वजनिक निर्माण के कार्य का अधीक्षक तथा नियोजक भी बना दिया जाता था। उसे मीरबर्र कहते थे। अकबर के काल में मीर बहर और मीरबर्र कासिम खां ने आगरे के किले का निर्माण करवाया था।

निष्कर्ष

प्रान्तीय प्रशासनिक अधिकारी केन्द्र के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। उन पर नियन्त्रण रखने के लिए ऐसी व्यवस्था बनाई जिससे वह स्वेच्छाचारी होकर अनियन्त्रित व्यवहार न कर सके। अकबर ने इसके लिए ऐसी संतुलन नीति बनाई जिससे कोई भी प्रान्तीय अधिकारी शक्तिशाली नहीं बन सकता था। प्रान्तों में सूबेदार और दीवान एक-दूसरे पर अंकुश लगाने का काम करते थे और एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी होते थे। प्रान्तीय अधिकारी सूबेदार के आधीन रहते हुए भी अपने कतिपय कार्यों के लिए अपने केन्द्रिय विभाग के प्रति उत्तरदायी थे जिससे सूबेदार, निरंकुश नहीं हो सकता था। डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने इस संदर्भ में लिखा है, कि "अकबर ने प्रान्तीय शासन पर अंकुश लगाने और अधिकारियों में संतुलन बनाये रखने की जो नीति अपनाई थी उस पर वह सदैव सतर्क दृष्टि और कड़ा नियन्त्रण रखता था उसके इसी नियन्त्रण से ही उसकी यह प्रान्तीय शासन व्यवस्था बड़े सुचारू रूप से सुगमता से चल सकी।"[2] मुगल शासकों ने प्रान्तों के सूबेदारों व अन्य अधिकारियों पर अंकुश लगाने के जो उपाय किये उनमें सर्वप्रथम था-सूबेदार तथा अधिकारियों को अधिक समय तक एक स्थान पर न रख कर उनका जल्दी-जल्दी स्थानान्तरण करना। जिससे कोई भी अधिकारी प्रान्त विशेष में अपने को स्थायी न समझ सके और स्थानीय लोगों से मिल कर प्रभावशालीन बन सके। दूसरे अगर किसी भी अधिकारी के बारे में यह रिपोर्ट मिलती थी कि वह अपना कार्य ठीक से नहीं कर रहा, या उसका आचरण भ्रष्ट था और वह अत्याचारी बन गया था तो उसके विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही की जाती थी। ऐसे बहुत से उदाहरण है जब

1. सरन, पी०, *प्राविंशियल गवर्नमेन्ट ऑफ दी मुगलस,* पृ० 186
2. श्रीवास्तव, ए०, एल०, *अकबर दी ग्रेट,* भाग-2, पृ० 128

शिकायत के आधार पर अधिकारियों का स्थानान्तरण किया गया या दण्ड दिया गया और निम्न पद पर भेज दिया। अकंबर ने हुसैन कुली खाँ को इसी तरह पंजाब की सूबेदारी से हटा दिया था। इतने प्रभावशाली मनसबदार राजा मानसिंह को काबुल से इसलिए बुला लिया गया कि अकबर को समाचार मिला कि वह तथा उसके राजपूत अधिकारी जनता से दुर्व्यवहार कर रहे थे। पंजाब के सूबेदार हुसैन कुली खां को उसके अकुशल प्रशासन के कारण हटा दिया गया। उसके स्थान पर सईद खां को नियुक्त किया गया। मुजफ्फर खां तथा शाह मंसूर को देहली के अमल गुजार की जांच करने को भेजा। इसी तरह राजा टोडरमल को बंगाल तथा बनारस का निरीक्षण करने को भेजा गया। प्रान्तों के अधिकारियों पर दूसरा महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण खुफिया विभाग का था। डॉ० सरन ने लिखा है कि इनका जाल पूरे साम्राज्य में फैला हुआ था। जिस कारण सरकारी अधिकारी सदैव सतर्क रहते थे। तीसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य था सूबेदार और दीवान को स्वतन्त्र प्रभारी बनाना। ये दोनों एक दूसरे पर नियन्त्रण रखते थे। Thirdly the administrative dyarchy which has been discussed above served as the most potent and infailing check on the governor and the ministry of the Province. The Bakhsi being generally also the waqianavis had a very strong instrument of power in his hands. The governor could not afford to show any highhandedness in his affairs nor to lose his confidence. Even more effective, in some ways, was the fear of the secret reporter (the sawanih navis), and the harkarah. The few cases quoted above in the account of intelligence department show how powerful a check this service constituted."[1] चौथा महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण शाही भ्रमण थे जिनका उद्देश्य प्रजा की दशा का ज्ञान रखना और कृषि को प्रोत्साहन देना था। बादशाह अकबर के स्वयं पंजाब जाने और प्रजा की शिकायतें सुनने तथा जहाँगीर के गुजरात भ्रमण, राजा टोडरमल का बंगाल भ्रमण तथा जनसम्पर्क स्थापित करना और शिकायतों पर कार्यवाही करना। इसी के उदाहरण हैं। "Such tour were also utilised for inspection purposes, and had a great restraining influence on the evil tendencies of the local officials."[2]

इन सब का परिणाम यह हुआ कि केन्द्र का प्रान्तों पर नियन्त्रण बना रहा प्रजा सुखी तथा साम्राज्य में खुशहाली और समृद्धि आई।

●

1. सरन, पी०, *प्राविंसियल गवर्नमेन्ट ऑफ दी मुगल्स*, पृ० 188–189
2. वही, पृ० 90

दशम अध्याय

स्थानीय प्रशासन

मुगल काल में प्रान्तों को सरकारों में विभाजित किया गया था। सरकारें पुनः परगनों तथा महालों में विभक्त की गई थीं। कई गाँव जिन्हें मौजा या डीह कहा जाता था मिलाकर परगने बनते थे। मौजा केवल घरों का समूह ही नहीं था वरन् उसके आसपास की जमीन भी उसमें सम्मिलित थी। इस तरह प्रत्येक गाँव की सीमाएँ निश्चित होती थीं। मौजे के निकट के पुरवा जिन्हें नर्गला कहते थे उसी में सम्मिलित कर लिए जाते थे। शाहजहाँ के शासन काल में उसके वज़ीर सादुल्ला खां ने कुछ परगनों को मिलाकर एक ईकाई बना दी थी जिसे चकला कहा जाता था। लेकिन सरकारों का अस्तित्व फिर भी बना रहा। कितने गाँवों को मिलकर एक परगना बनेगा तथा कितने परगनों को मिलाकर सरकार बनेगी यह निंश्चित नहीं था। सरकार और परगना प्रशासनिक भाग थे जिनमें राजस्व भी सम्मिलित था किन्तु यह न तो पूर्णतया सैन्य विभाग थे और न ही राजस्व विभाग। इनके प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों में दोनों का ही मेल रहता था। गाँव का प्रबंध ग्राम पंचायत करती थी। आईन-ए-अकबरी के अनुसार 1516 में मुगल साम्राज्य में 105 सरकार तथा 2737 परगने या महाल थे। ये संख्या साम्राज्य विस्तर के साथ बदलती रहती थी।[1]

सरकार तथा प्रशासन

फौजदार

सरकार का प्रमुख अधिकारी फौजदार होता था। राजस्व का कार्य अमल गुज़ार देखता था। फौजदार की नियुक्ति शाही फरमान से होती थी। वह सरकार में सम्राट तथा सूबेदार का प्रतिनिधि था। वह सूबेदार के निर्देशन में कार्य करता था किन्तु उसके पत्र सीधे बादशाह के सामने प्रस्तुत किए जाते थे। इससे पता चलता है कि फौजदार सरकार का प्रभावशाली अधिकारी था। फौजदार के कार्यों के बारे में आईन-ए-फौजदार से पता चलता है जिसका उल्लेख आईन में किया गया है। फौजदार की नियुक्ति के समय उसे उसके दायित्वों का भी परिपत्र दिया जाता था।

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 192

जो राजस्व, पुलिस तथा सेना से सम्बंधित होते थे। राजस्व के विषय में उसका दायित्व परोक्ष था। उसे राजस्व की उगाही में अमील या अमलगुज़ार की सहायता करनी पड़ती थी। सेना के क्षेत्र में उसका दायित्व सेना का निरीक्षण तथा युद्ध सामग्री इत्यादि की आपूर्ति का ध्यान रखना था। उसका मुख्य दायित्व सीमा की सुरक्षा करना था। अपने क्षेत्र में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए उत्तरदायी था। मीरात-ए-अहमदी में फौजदारों के पुलिस संबंधी अधिकारों की विस्तृत चर्चा की गई है। जैसे बागियों तथा विद्रोही सरदारों को समाप्त करने के लिए उनके दुर्ग नष्ट कर दो; सड़कों की सुरक्षा करना; करदाताओं की रक्षा करना; लोहारों को बन्दूकें मत बनाने देना; थानेदारों पर नियन्त्रण रखना। प्रत्येक सरकार में फौजदार के आधीन थानों का जाल बिछा था जिसका अध्यक्ष थानेदार होता था। फौजदार थानेदारों के माध्यम से सरकारों में शान्ति तथा व्यवस्था बनाने का काम करता था। जब कोई महत्वपूर्ण पत्र बादशाह तक पहुँचाना होता था तो फौजदार, जमींदार तथा थानेदार हरकारे के साथ जा कर अगली चौकी तथा पहुँचाते थे। डाकुओं, चोरों से अपने क्षेत्र की सुरक्षा करना उसका दायित्व था। थेवनोट ने लिखा है कि, "..the faujdar of Surat is obliged to secure the country about, and to answer for the robberies that are committed there...."[1] रेल्फ फिंच ने लिखा है कि दिल्ली के फौजदार ने दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्र से चोर और डाकुओं का सफाया कर दिया था। उपद्रवकारी तत्त्वों का सफाया करने के लिए उसके पास एक सैनिक टुकड़ी रहती थी।

फौजदार के पास न्याय करने का अधिकार नहीं था। फौजदार के अधिकार सीमित होने को कारण अन्य अधिकारी उसके अधिकारों का अतिक्रमण करते रहते थे। अकबर के बाद बादशाहों ने फौजदार को (faujdar) न्याय का अधिकार भी प्रदान कर दिया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद फौजदार का पद वंशानुगत हो गया। जहीरुद्दीन मलिक ने जूनागढ़ का अध्ययन करते हुए दिखाया है कि सरकारों में फौजदार के अधिकार मूल अधिकार क्षेत्र से कितने अधिक बढ़ गये थे। अठारहवीं शती के आरंभ में तो इनकी शक्ति और भी बढ़ गई और वह सूबेदारों के साथ मिलकर षड़यंत्र भी करने लगे थे।

अमलगुजार

सरकार में फौजदार के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकारी अमल गुजार था। जिसका मुख्य कार्य राजस्व विभाग को सुचारु रूप से चलाना था। उससे आशा की जाती थी कि वह अफसरों के दबाव और दमन को कम करने के लिए सीधे

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 194

किसानों से सम्पर्क स्थापित करे। किसानों की डाकुओं, चोरों, हत्यारों आदि से रक्षा करने के लिए उसे इन्हें दण्डित करने का अधिकार भी दिया गया था। वह खेती को प्रोत्साहित करने तथा खेती की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए प्रयासरत रहेगा। किसानों को कर्ज देना और उनकी वसूली करवाना अमल गुज़ार का दायित्व था। उसे इस बात पर विशेष ध्यान देना होता था कि गाँव का मुखिया किसानों का शोषण न करे। वह ग्राम प्रधान के माध्यम से राजस्व वसूल कराता था तथा खेती की जाने वाली भूमि की रिपोर्ट का परिमार्जन करता था। खराब फसल का ध्यान रखता था। सर्वेक्षकों और मूल्यांकन करने तथा अन्य छोटे राजस्व अधिकारियों पर भी नियन्त्रण रखने का दायित्व अमल गुजार का था। खालसा भूमि का राजस्व एकत्र करके खजाने में जमा करने का दायित्व भी उसी का था। उसे सरयूगल भूमि का निरीक्षण कर उसकी प्रतियाँ पंजीयक कार्यालय में भेजना होता था जिससे वहां रखी प्रति से उसका मिलान हो सके। अमल गुजार को प्रत्येक महीने प्रजा, जागीरदारों, पड़ोसी निवासियों, विद्रोहों के दमन, बाजार भाच, पट्टेदारी के चालू मूल्य, गरीबों की दशा आदि की रिपोर्ट बादशाह को भेजनी होती थी। कोतवाल का पद रिक्त होने पर उसे कोतवाल का कार्यवाहक पद का दायित्व निभाना पड़ता था। इस तरह सरकार में अमल गुजार का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

काज़ी

काज़ी (Qazi) सरकार में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकारी था। काज़ी का मुख्य कार्य न्याय करना था। न्याय के साथ-साथ वह धार्मिक कार्य, अनुदान, गरीबों की सहायता, मस्जिद और मदरसों की देखभाल जैसे कार्य भी करता था। सद्र-उस-सूदर द्वारा दी जाने वाली मदद-ए-माश पर उसकी स्वीकृति आवश्यक थी। मुसलमानों के यहाँ विवाह आदि उत्सव उसकी उपस्थिति में ही सम्पन्न होते थे काज़ियों का यह भी दायित्व था कि उनके क्षेत्र में पड़ने वाले बन्दरगाहों पर चुंगी वसूल हो रही है या नहीं उसका निरीक्षण करें, बादशाह औरंगजेब के समय ज़कात और जज़िया करों की वसूली का दायित्व भी काज़ी को सौंप दिया गया था। न्याय के साथ-साथ गैर न्यायिक कार्यो का दायित्व उठाने के कारण उसकी स्थिति अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गई थी। जिससे उसके भ्रष्ट होने की संभावना भी बढ़ गई थी। औरंगजेब ने इसी संभावना का आभास करते हुए काज़ी की नियुक्ति करते समय निर्देश दिया कि काज़ी निष्पक्ष रहे, ईमानदार हो, न्यायी बने तथा उपहार और दावत स्वीकार न करें। डॉ० पी०सरन ने लिखा है कि इस तरह सरकार में फौजदार, अमलगुजार, काज़ी और कोतवाल चार प्रमुख अधिकारी थे। न्याय का सारा कार्य काज़ी और कोतवाल करता था।

कोतवाल

बड़े-बड़े नगरों तथा राजधानी अथवा प्रान्तों की राजधानी में चारों तरफ दीवार बनाकर नगर को घेर कर दुर्ग बना दिया जाता था। इन दुर्गों का अधिकारी कोटपाल (कोतवाल) होता था। कालान्तर में बड़े-बड़े नगरों तथा सरकारों में नगर प्रमुख को कोतवाल कहा जाने लगा। दिल्ली सल्तनत में कोतवाल मुख्यतया पुलिस अधिकारी था जिसका कार्य नगर तथा निकटवर्ती भागों की सुरक्षा करना था। रात को नगर में गश्त लगाना, मार्गों को सुरक्षित रखना तथा बाहर से आने वालों की सूची रखना था।

अकबर के समय कोतवाल के कार्यों और पद की जानकारी आईन में मिलती है। कोतवाल की नियुक्ति और दायित्वों के बारें में अकबर द्वारा 1595 में जारी फरमान आईन-ए-कोतवाल से पता चलता है। इन दोनों में बहुत समानता है। इनमें कोतवाल का दायित्व शहर की सुरक्षा और निगरानी, बाजार पर नियन्त्रण रखना; उत्तराधिकारी विहित सम्पत्ति का निस्तारण करना; लोगों के आचार व्यवहार पर दृष्टि रखना तथा अपराध और सामाजिक बुराईयों पर प्रतिबंध लगाना, किसी स्त्री को उसकी इच्छा के बगैर सती न करने देना; कब्रगाह, बूचड़खाने आदि पर नियन्त्रण करना था।[1]

कोतवाल की नियुक्ति मीर आतिश की सिफारिश पर केन्द्र करता था। उसका प्रशासनिक अधिकार शहर तथा उपनगरों तक सीमित था। वह एक दण्ड अधिकारी था। उसकी अपनी सेना 50 सैनिकों की थी। उसका वेतन प्रति माह (गुजरात में) 213 रुपये था। उसके नीचे का अधिकारी मुशरिफ था जिसका वेतन 40 रूपये प्रतिमाह था जो कोतवाल के आफिस से दिया जाता था। शाही खजाने से उनके वेतन का भुगतान कोतवाल तथा सूबे के दीवान की मोहर लगे परिपत्र के आधार पर किया जाता था। कोतवाल नगर की सुरक्षा के लिए चौकीदार नियुक्त करता था। तथा उनके क्षेत्रों का बंटवारा करता था। अपने-अपने क्षेत्रों की चौकीदार दिन-रात चौकीदारी करते थे। इस सम्बन्ध में कोतवाल को जो निर्देश दिए गये थे वह इस प्रकार थे, "..in short they (Kotwals) should appoint one or two watchmen in every Mohalla to report the daily occurances there and further they should act honestly towards the people and consider this only as a detail of good government, and not make it an excuse for seizing men's property."[1] कोतवाल पारस्परिक सहायता तथा तुरंत सहायता देने के द्वारा सुरक्षा व्यवस्था बनाये। उसका काम था कि वह शिकायतों को अविलम्ब दूर करे। शहर के प्रत्येक मोहल्ले, हल्के

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 216

की जानकारी रखे। लोगों को निठल्ला न बैठने दे क्योंकि निठल्ला दिमाग शैतान का घर होता है। "Moreover he was asked to let no men remain idle because workless people are fruitful source of mischief"[1] कोतवाल घर-घर जाकर दिन में दो बार सफाई करने वाले मेहतरों को जासूसी करने तथा सभी समाचार जानने के लिये प्रयोग करता था।[2] सरायों से वह व्यापारियों पर नजर रखता था और उनके बारे में जानकारी प्राप्त करता था। शहर में होने वाली तमाम चोरी-डकैती का उत्तरदायित्व कोतवाल पर था। अगर वह अपराधी पकड़ने से असफल होता तो उसे स्वयं हर्जाना भरना पड़ता था। इसका उद्देश्य कोतवाल को सतर्क रखना था जिससे वह अपने उत्तरदायित्व का ठीक से निर्वाह करे।

थेवनाट Thevnot तथा मनरिक Manrique और Manucci मनुची नामक यूरोपिय यात्री कोतवाल को शहर की सुरक्षा व्यवस्था का उल्लेख करने के साथ-साथ यह भी लिखते हैं कि वह बाजार का नियमन करता था। जमाखोरी रोकना, माप-तौल का निरीक्षण वही करता था। वह ऐसी संपत्ति की सूची बनाकर दरबार में भेजता था जिसका वारिस न मिलने पर उसके वैध हकदार को सम्पत्ति हस्तानान्तरित की जा सके। शाही नियमों का पालन कराना, जबरन सती किए जाने को रोकना, खतना की उम्र का ध्यान रखना, बाल-हत्या, पशु-वध रोकना इत्यादि सरकारी नियमों का पालन करवाता था। वह चुंगी अधिकारी तथा दण्ड अधिकारी का भी कार्य करता था। इस तरह मुगल शासन में शहरों में नगरीय व्यवस्था स्थापित की गई थी जिसकी तुलना मौर्यकालीन नगर व्यवस्था से की जा सकती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में इस नगर व्यवस्था का लोप हो गया। लॉर्ड रिपन ने अंग्रेजी शासन में नगर व्यवस्था को स्थानीय स्वशासन व्यवस्था के रूप में लागू करने का प्रयास किया था।

मुगलकाल में शासकवर्ग और उच्चवर्ग शहरों में रहता था। इसलिए कोतवाल और उसके विभाग का काम अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। शाही शासन को कोतवाल के विस्तृत दायित्वों तथा विभिन्न प्रकार के कार्यों का ज्ञान था इसलिए उसे आवश्यकतानुसार सहायक रखने की अनुमति थी। डॉ० पी० सरन ने लिखा है कि, "There should be no difficutly in believing that it was possible for one officer to accomplish such a heavy work, Sir Jadunath Sarkar (*Mughal Administration*, pp. 68-69) dismisses Abul Fazal's statement in the Ain of the Kotwal's duties as an ideal which only a perfect man could easily satisfy." डॉ० सरकार

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*
2. *वही*

का यह मत कि ऐसा व्यक्ति होना दुर्लभ था इसलिए आईन के निर्देशों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। डॉ० पी. सरन का मानना है कि प्रशासन में सुचारुता लाने तथा सुरक्षा और प्रजा की खुशहाली के प्रति बादशाहों की प्रतिबद्धता ये फरमान बताते हैं। उन्होंने लिखा है कि, "They were given to all other officers and only evinced the keanness with which the emperor cared for the happiness, security and good of the people."[1]

परगना

परगना मुगल शासन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपसंभाग था। प्रत्येक सरकार परगनों में विभाजित थी। अकबर ने परगने के शासन को सुव्यवस्थित तथा संगठित करने का प्रयास किया था। उसने भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर परगनों की सीमाएँ निश्चित करने का प्रयास किया। अकबर के शासन के अन्त में 5,000 महाल अथवा परगने थे। परगने के प्रमुख तीन अधिकारी होते थे; शिकदार, अमील या अमीन तथा कानूनगो। इनकी सहायता के लिए खंजाची, लिपिक, बाबू, पटवारी तथा चपरासी होते थे। शिकदार परगनों का प्रमुख प्रशासक था। परगने में उसका कार्य सरकारों के फौजदार तथा कोतवाल जैसे होते थे। सरकारी आदेशों का पालन कराना, लगान वसूल करने में अमीन की सहायता करना, कानून और व्यवस्था बनाने के साथ-साथ अपराधियों को दण्ड देना भी उसी का कार्य था। राजस्व विभाग से उसका सीधा सम्बन्ध था वही एक ऐसा व्यक्ति था जो आपात काल में खजाने से खर्च करने की अनुमति दे सकता था। वैसे यह अधिकार केवल कारकून को प्राप्त था।

अकबर के शासन काल में अमीन परगने का दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकारी था। अमीन के लिये अमीन तथा मुंशी भी प्रयुक्त किया जाता था। उसके परगने में वही दायित्व थे जो सरकार में अमलगुजार के होते थे। अकबर ने अपने शासन के अठारहवें वर्ष में प्रत्येक महाल या परगना जिसकी मालगुजारी एक करोड़ थी के लिए एक अमीन नियुक्त किया। यह जनता में करोड़ी के नाम से जाना जाता था। इसका मुख्य कार्य मालगुजारी वसूल करना था। राजस्व के निर्धारण और वसूली से लिये उसे किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना पड़ता था। उसे शान्ति व्यवस्था स्थापित कराने में शिकदार की सहायता करनी पड़ती थी। शाहजहाँ के काल में प्रथम बार मालगुजारी निर्धारित करने के लिए परगनों में अमील की नियुक्ति की गई तथा कुछ परगनों को मिलाकर एक नई ईकाई चकला का गठन किया गया। डॉ० परमात्मा सरन ने लिखा है कि यह विभाजन क्यों किया गया इसे जानने का कोई

---

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*

साक्ष्य नही है। शायद सरकार के बदले बनाया गया हो अथवा सरकार और परगने के बीच का प्रभाग हो। चकला शब्द का प्रयोग अन्य संदर्भों में मिलता है। गुजरात में चकला शब्द का प्रयोग पुलिस प्रबंध के लिये विभाजित वार्डों या मुहल्लों के लिए किया जाता था। सादुल्ला खाँ ने प्रत्येक चकले में एक अमीन तथा एक फौजदार की नियुक्ति की। साधारणतया एक ही व्यक्ति दोनों पदों पर कार्य करता था। करोड़ी का पद समाप्त करने के बाद भी वह परगने में बना रहा और राजस्व की वसूली में सहायता करता रहा।

प्रत्येक परगने में एक खजाना होता था। इसका प्रमुख खजानादार या फोतादार कहलाता था। अकबर के काल में शिकदार, आमील तथा कारकून खजाने के प्रबंध को देखते थे। अमील और गुमाश्ते जो कर वसूल करके खजानादार को देते थे वह उनकी रसीद उन्हें देता था। खजानादार अर्थात् खजांची परगने के धन के हिसाब-किताब के लिए उत्तरदायी होता था। वह इसे ज़िले के मुख्यालय में जमा करवाता था। वह यह ध्यान रखता था कि धन सुरक्षित रहे और दीवान की अनुमति के बगैर खर्च न हो।

कानूनगो नामक अधिकारी पहले से ही परगने से जुड़ा था। शेरशाह और अकबर के समय एक परगने में एक ही कानूनगो की नियुक्ति होती थी। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि कानूनगो किसानों का आश्रयदाता था क्योंकि वह फसलों, लोगों और राजस्व का विवरण रखता था। कानूनगो को वसूल किये गये राजस्व पर एक प्रतिशत दस्तूरी मिलती थी जिसे नानकार कहा जाता था। अकबर ने दस्तूरी के स्थान पर कानूनगों का वेतन निश्चित कर दिया था। अकबर ने कानूनगों को तीन श्रेणी में बाँटा और उनका वेतन 20, 30, 50 रुपये प्रतिमाह तय किया। अठारहवीं सदी में कानूनगों 2 प्रतिशत कमीशन वसूल करने लगे थे। कई परगनों में दो-दो कानूनगों नियुक्त कर दिये गये थे। जब औरंगजेब को इसकी सूचना मिली तो उसने उन्हें पदच्युत करने की आज्ञा दी।

कानूनगों की तरह परगने में एक और अधिकारी होता था जिसे चौधरी कहा जाता था। वह उस क्षेत्र का जमींदार या तालुकदार होता था। गुजरात में चौधरी को देसाई तथा दक्षिण में देशमुख कहते थे। यह राजस्व से सम्बंधित अधिकारी था जिसका पद वंशानुगत होने के बाद भी बादशाह से सनद प्राप्त करनी पड़ती थी। मीरात-ए-अहमदी से पता चलता है कि गुजरात में देसाई राजस्व वसूल करने के बदले 2 1/2 प्रतिशत दस्तूरी (नानकार) लेते थे जिसे बाद में कम कर दिया गया।

परगने में एक अन्य अधिकारी कारकून था। कारकून का काम वही था जो जिले में बितकची का था। अकबर काल में अभिलेख फारसी में लिखे जाते थे। अतः वह फारसी जानता था। प्रत्येक परगने में एक काज़ी (Qazi) भी होता था

जिसका काम न्याय में सहायता करना, धर्म का पालन कराना, अनुदान, शिक्षा आदि की व्यवस्था करना था।

ग्राम प्रशासन

प्रत्येक परगने में कई गाँव होते थे। मुगल प्रशासनिक व्यवस्था में ग्राम सबसे छोटी ईकाई के रूप में मान्य था। ग्राम ईकाई एक स्वायत्त संस्था थी जिसका संगठन अति प्राचीन समय से चला आ रहा था। सिडनी वेब ने लिखा है कि, "Local Government is as old as the hills." भारत के संदर्भ में यह नितांत सही था क्योंकि यहाँ ग्राम सभा व समितियों के माध्यम से शासन की परम्परा थी। 19वीं शताब्दी के बिट्रिश प्रशासक मॉलकाम, मुनरों, मेटकाफ और सलीमन ने ग्राम व्यवस्था के उपस्थिति और उसके अच्छे कार्य करने की संस्तुति की है। मेटकॉफ तो ग्राम व्यवस्था से इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें "little republics" 'नन्हें गणतन्त्र' की उपाधि दी। बाद में भारतीय ग्राम व्यवस्था के लिए यह शब्द प्रयुक्त किया जाने लगा। डॉ० पी० सरन लिखते है कि, "..since the time it was used by Metcalf it has come to bear a very precise significance in political terminology, which is hardly applicable to the village communities."[1] 19वीं शताब्दी के मध्य में इतिहासकारों ने लिखा कि विभिन्न निरकुंश राजतन्त्रों के शासन में यह ग्राम समुदाय छोटे स्वतन्त्र गणतन्त्रों की तरह थे। एक प्रकार के छोटे संवैधानिक राजतन्त्र थे जिनकी सीमाएँ संकुचित थीं परन्तु अपनी-अपनी सीमाओं में आत्मनिर्भर तथा स्वायत्तशासी थे। "This people of salves, if only left to themselves are in possession of the most perfect municipal freedom."[2] सर जान मालकाम ने अपने सैन्ट्रल इंडिया के संस्मरण में ग्राम व्यवस्था के बारे में लिखा है कि, "..fortunately the bigotry of the Muhammadans and the rapacity of the Marathas, alike understood and valued those ancient institutions which render every village in India an independent and distinct community, ruled by its own officers within its own limits." डॉ० पी० सरन ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है कि ग्राम प्रशासन को सबसे बड़ा धक्का ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में लार्ड कार्नवालिस के निर्णय से लगा जिसमें किसानों का स्वामित्व उनसे छीन कर कुछ लगान वसूल करने वाले जमींदारों को सौंप दिया। इसके साथ ही यह प्रश्न उठताा है कि मुगल शासन का ग्राम प्रशासनिक व्यवस्था से क्या सम्बंध था? मुगल स्त्रोतों में इसके बारे

1. सरन, पी०, *प्राविंशियल गर्वेन्मेन्ट ऑव दी मुगलस,* पृ० 222-23
2. लुडलो, *ब्रिट्रिश इण्डिया, इटस रेसिस एंड इट्स हिस्ट्री* (1858) भाग-1, पृ० 64-65

में आंशिक वर्णन ही मिलता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि केन्द्रीय प्रशासन का गाँवों के प्रशासन से कोई सम्बंध ही नहीं था। इसका सीधा सा प्रमाण है किसानों से राजस्व या लगान वसूल करने की प्रक्रिया जिसका विस्तृत वर्णन मिलता है। अपराधों के संदर्भ में ग्राम समुदाय अपराधी को पकड़वाने के लिये उत्तरदायी समझे जाते थे। मार्गों की सुरक्षा, सरायों, डाक चौकी की सुरक्षा, धार्मिक, फौजदारी तथा दीवानी के मामलों में ग्राम व्यवस्था उत्तरदायी थी। अकाल, महामारी, प्राकृतिक, आपदा, किसानों का शोषण और उन पर अनावश्यक दबाव डालने वालों के प्रति मुगल शासन कार्यवाही करता था। साथ ही साथ कृषि के विस्तार के लिए किसानों को प्रोत्साहन देना, ऋण देना, सिंचाई के लिये तालाब, कुएं खुदवाना, नहर खुदवाना आदि सब गाँव के लिये था। सारी समृद्धि कृषि पर निर्भर थी इसलिए उसका प्रबंध और शासन मुगल साम्राज्य की सबसे बड़ी विशेषता थी। यह बात दीगर है कि उन्होंने गांवों की प्रशासनिक व्यवस्था जो सदियों से चली आ रही थी उसे बदलने या हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं किया। परगने के प्रशासन के माध्यम से ग्राम ईकाई के साथ सम्बंध स्थापित कर लिया।[1] पूरे प्रशासन को बर्गर धर्मों जातियों में बांटे प्रशासन के दायरे में समेट लिया।

ग्राम प्रशासन का अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारत एक विशाल देश है जिसमें सभी गांवों में समरूप प्रशासन की आशा नहीं की जा सकती है। लेकिन मूल ढाँचा सभी गाँवों के प्रशासन का मिलता जुलता सा दिखाई देता है। हाऊस ऑफ कामन्स की सलेक्त कमेटी रिपोर्ट 1812, जिसे फिफ्थ रिपोर्ट (Fifth Report) के नाम से जाना जाता है, में श्री मथाई ने ग्राम प्रशासन का वर्णन करते हु लिखा था कि कारीगर, व्यापारी आदि के द्वारा गाँवों में आन्तरिक शासन चलता था।[2]

इस व्यवस्था में ग्राम प्रधान जिसे खुत, मुकद्दम या चौधरी भी कहा जाता था, सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति था। उसका कार्य आम निगरानी रखना, विवादों का निपटारा करना, पुलिस का दायित्व निभाना (शान्ति, व्यवस्था कायम रखना और राजस्व एकत्र कराना था।[3]) ग्राम प्रधान के बाद महत्त्वपूर्ण अधिकारी पटवारी था जो लेखपाल की तरह होता और फसलों का हिसाब-किताब रखता था। गाँवों के सम्बन्ध में सरकार पटवारी को सबसे विश्वसनीय मानती थी। अंग्रेजों के शासन काल में पटवारी सरकारी कर्मचारी होने लगा था।

---

1. सरन पी०, पू० उद्०, पृ० 222-224
2. *वही*
3. *वही*

गाँव के दो प्रकार के चौकीदार होते थे एक उच्च श्रेणी के तथा दूसरे निम्न श्रेणी के। ये गाँव के हरकारा और पहरेदारी का काम करते थे। उच्च श्रेणी के चौकीदार अपराधियों का पता लगाते थे तथा एक गाँव से दूसरे गाँव जाने वालों की सुरक्षा करते थे। दूसरे प्रकार के चौकीदार का काम गाँव तक सीमित था वह फसल की देखभाल तथा नापजोख में सहायता करता था। सीमा अधिकारी गाँव की सीमा का सीमापाल (boundryman) होता था। जो सीमा के विवाद के समय गाँव की सीमा का प्रमाण उपलब्ध कराता था। तालाब, जलाशयों, जलधाराओं का अधीक्षक होता था जो किसानों को सिंचाई के लिए पानी का प्रबंध करता था। गाँव के धार्मिक-सामाजिक उत्सव सम्पन्न कराने के लिए एक पुरोहित अथवा पंडित होता था। अध्यापक गाँव के बच्चों को रेत में लिखना पढ़ना सिखाते थे। गणित मौखिक सिखाया जाता था। यूरोपिय यात्रियों का यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि भारत के लोग साक्षर थे और दूसरे देशों की भाषायें भी जानते थे। गणित मे किसी भी संख्या की भिन्न, गुणांक तुरंत कर लेते थे।

इसके अतिरिक्त ज्योतिषी, लुहार, बढ़ई, कुम्हार, नाई, धोबी, ग्वाला, वैद्य, गायक, नर्तक, नर्तकियों, चारण, कवि, गौपालक होते थे जो पारस्परिक सहयोग से कार्य करते थे। "Originally these functionaries carried on the work of the community by a mutual co-operation. Later each of these professions became crystalised into a caste with its hereditary duties, obligations and privileges."[1]

ग्राम समितियाँ ग्राम सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग था। प्रत्येक गांव में एक पंचायत होती थी। इसके सदस्य विभिन्न परिवारों के कर्त्ता या प्रमुख होते थे। पंचायत का अध्यक्ष सरपंच कहलाता था। सभी सदस्यों की आम सभा विशेष अवसरों पर बुलाई जाती थी। बाकी कार्य करने के लिये उपसमितियां थीं। जिनका उल्लेख 10वीं शती में मिलता है। इन उपसमितियों में 30 से 70 वर्ष की आयु के व्यक्ति ही सदस्य बन सकते थे। सदस्यों की अर्हताओं में उनकी योग्यता, कर्मठता, चरित्र तथा आर्थिक स्थिति प्रमुख थी। अगर कोई सदस्य पिछले 3 वर्षों में ठीक काम नहीं करता तो वह पुनः निर्वाचन के लिये अयोग्य करार कर दिया जाता था। स्त्री-पुरुष कोई भी सदस्य बन सकता था।[2]

पंचायतों का प्रमुख कार्य झगड़ों का निपटारा करना, पहरा निगरानी करना, शिक्षा, सफाई, जनकल्याण के कार्य, स्वास्थ्य सेवा कार्य, राहत कार्य, मनोरंजन, हाट, मेला, उत्सव आदि की व्यवस्था करना था। "The functions of the vil-

1. सरन, पी०, पू० उद्०, पृ० 225
2. *वही*, पृ० 226

lage punchayat included settlement of disputes, watch and ward, education, sanitation, public works, poor relief, medical relief and provisions for recreation, amusements and festivals."[1] इसके अतिरिक्त कुछ समूह विशेष की अपनी पंचायतें थीं जो आपसी मामलों का निपटारा करती थी। मुगल शासन ने ग्राम शासन में कोई परिवर्तन नहीं किया क्योंकि इस संदर्भ में कोई स्पष्ट उल्लेख या साक्ष्य प्राप्त नहीं होता। अंग्रेजी तथ्यों और यूरोपिय यात्रियों के यात्रा विवरण में मिलने वाले संकेतों से ऐसा लगता है कि प्राचीन समय से 10वीं शती तक जो ग्राम्य शासन चला आ रहा था वहीं मुगलों के समय भी चलता रहा होगा।

सीमा की सुरक्षा

मुगल काल में सीमा सुरक्षा एक कठिन समस्या थी। इसमें उत्तर-पश्चिम में काबुल, कश्मीर, उत्तरी हिमालय का सीमान्त तथा उत्तर-पूर्व में लगा भाग आता था। इसमें उत्तर-पश्चिम की समस्या सबसे कठिन थी। इन भागों के कबायली तथा उपद्रवियों को धन, दण्ड अथवा कूटनीति से शांत किया जाता था। फिर भी इनका डर बना रहता था। इन भूभागों में मुगलों ने पर्वतीय सीमान्त में फौजदार तथा सीमांत चौकियां स्थापित कीं। प्रत्येक फौजदार के नीचे कई चौकी होती थीं ज़िन्हें थाना कहा जाता था। फौजदार सीमा की सुरक्षा करता था तथा उपद्रवी और आक्रांताओं को दण्ड देता था। सीमा की सुरक्षा के लिए किलों का निर्माण कराया। ईरान और भारत के बीच कंधार का दुर्ग अत्यंत महत्त्व का था। मुगल शासकों ने योग्य व्यक्तियों को कुशल सेना के साथ इन दुर्गों की सुरक्षा का काम सौंपा। युवराजों को सीमा प्रान्तों का सूबेदार नियुक्त किया। इस तरह सीमा पर शान्ति व्यवस्था बनाना, व्यापारिक मार्ग और दर्रों की सुरक्षा तथा ईरान, इराक, तुर्की तथा उजबेगों से सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुगल शासकों ने शासन की एक कुशल प्रणाली विकसित की। डॉ० पी० सरन ने मुगल प्रशासन की समीक्षा इन शब्दों में की है, "The basis of almost the entire system of higher government services was military, just as the Indian medical service under the present system is. That however, only meant that the conditions of the services were adjudged and governed by military rules and not that the sole aim of Mughal Government was military. All the high officers, although they held

---

1. सरन, पी०, पू० उद्०, पृ० 227

military ranks performed civil duties unless requisitioned to war front."[1]

सरकारी सेवा में नियुक्ति के लिये आज की तरह की अर्हताएँ और प्रतियोगितायें नहीं थी। बादशाह तथा अधिकारी किसी व्यक्ति को सरकारी सेवा रखने से पहले उसकी जांच पड़ताल करते थे और निम्न पद नियुक्त करते थे। कर्मठता, स्वामिभक्ति, परिणाम किसी भी व्यक्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण अर्हताएँ थीं। सेवा में ढिलाई या गद्दारी अक्षम्य अपराध था। जो मुगल शासन की कुशलता का मेरुदण्ड था।

1. सरन, पी०, *इस्लामिक पॉलिटी*, पृ० 129

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अतहर अली, एम०, *दि मुगल नोबिलीटी अण्डर औरंगजेब*, नई दिल्ली, 1966

अन्सारी, मुहम्मद अजहर, *सोशल लाइफ ऑफ दि मुगल एम्परर्स*, दिल्ली, 1975

अब्दुल अजीज, *दि इम्पिरीयल ट्रेजरी ऑफ दि इण्डियन मुगल*, लाहौर, 1942; *दि मनसबदारी सिस्टम एण्ड दि मुगल आर्मी*, नई दिल्ली, 1972

अबुल फजल, *अकबरनामा* (अंग्रेजी अनुवाद), एच० बेवरिज, भाग-1, भाग-2, भाग-3, कलकत्ता, विलोका इन्डिका, *आईने अकबरी*, (अंग्रेजी अनुवाद), भाग-1, ब्लाखमैन, एच० कलकत्ता 183, भाग-2 तथा 3 एच०एस० जैरट तथा जदुनाथ सरकार, कलकत्ता, 1949 तथा 1948

अर्सकिन, विलियम, *हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, अण्डर दि फर्स्ट टू सावरेन्स आफ दि हाउस आफ तैमूर, बाबर एण्ड हुमायूँ, भाग-1 तथा 2, लन्दन, 1854

अहमद, अजीज, *पोलिटिकल हिस्ट्री एण्ड इन्स्टीटयूशन्स ऑफ दि अर्ली टर्किश एम्पायर ऑफ देहली*, 1949; *दि मनसबदारी सिस्टम एण्ड दी मुगल आर्मी*, 1972

अहमद, मुहम्मद बशीर, *दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन मेडिवल इंडिया*, अलीगढ़ 1941

अहमद, लईक, *दि प्राइम मिनिस्टर्स ऑफ औरंगजेब*, इलाहाबाद 1976

इब्न हसन, *दि सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दि मुगल एम्पायर*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1936

इरविन, विलीयम, *लेटर मुगल्स*, भाग-1 तथा 2, कलकत्ता, 1922; *दि आर्मी ऑफ दि इण्डियन मुगल्स*, लन्दन, 1903

इलियट तथा डाउसन, *हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स*, भाग 1-6, लन्दन, 1866-77

कानूनगो, कालिकारंजन, *शेरशाह*, कलकत्ता, 1921; *दारा शिकोह*, 1952; *शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स*, ओरिएण्ट लांगमैन, 1965

कुरैशी, इश्तियाक हुसैन, *दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल एम्पायर*, पटना; *दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सल्तनत ऑफ देहली*, लाहौर, 1944

खोसला, रामप्रसाद, *मुगल किंगशिप एण्ड नोबिलिटी*, इलाहाबाद, 1934

घोषाल, यू०एन०, *एग्रेरियन सिस्टम इन ऐन्शियेन्ट इण्डिया*, कलकत्ता, 1930

चट्टोपाध्याय ब्रजइलाल, *मेकिंग ऑफ अर्ली मेडिवियल इण्डिया,* रवीश पब्लिर्शस, पूना

जहाँगीर, *तुजुके-जहाँगीरी,* अंग्रेजी अनुवाद, ए० रोजर्स एवं बेवरिज, कलकत्ता, 1909-14

डे०यू०एन०, *दि मुगल गवर्नमेण्ट,* नई दिल्ली, 1970

तिमरिज्ञी, एस०एस०, *मुगल डॉक्यूमेण्टस,* भाग-1, 2, रवीश पब्लिर्शस, पूना

निजामुद्दीन, अहमद, *तबकाते-अकबरी,* अंग्रेजी अनुवाद, बी०डे०, भाग-1, 2, 3, (कलकत्ता, 1936-40)

निजामी, के०ए० (सं०), *मेडिवल इण्डिया ए मिसैलेनी,* भाग-2, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1972

पेलसार्ट, *जहाँगीर्स इण्डिया,* अनुवादक, मोरलैण्ड तता गेइल, कैम्ब्रीज, 1925

फारुकी, जहीरुद्दीन, *औरंगजेब एण्ड हिज टाइम्स,* बम्बई, 1935

फेयर, *ए न्यू एकाउण्ट ऑफ ईस्ट इण्डिया एण्ड परसिया,* विलियम क्रुक द्वारा दो भाग में सम्पादित, हकलुयात सोसायटी द्वारा प्रकाशित

बनारसीदास, *अर्ध कथानक*

बी०एस० चयानी, *मध्यकालीन भारत*

बेनी प्रसाद, *हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर,* इलाहाबाद, 1940; *दि स्टेट इन ऐन्सिएण्ट इण्डिया,* इलाहाबाद, 1928; *थियरी ऑफ गर्वनमेण्ट इन ऐन्सियेण्ट इण्डिया*

बंसल, ऊषा रानी, *सल्तनतकालीन सरकार तथा प्रशासनिक व्यवस्था,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2003

मजुमदार, आर०सी० (सम्पादक), *हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपुल,* खण्ड सात; *दि मुगल एम्पायर,* भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1974

मजुमदार, राय चौधरी, दत्त, *भारत का वृहत्त इतिहास,* भाग-2, मैकमिलन, 1991

मुजफ्फर आलम तथा संजय सुब्रह्मण्यम (सम्पादक), *दी मुगल स्टेट,* रवीश पब्लिर्शस, पूना

मूसवी, शीरीन, *मध्यकालीन भारत,* सम्पादक इरफान हबीब, 1994

मोरलैण्ड, डब्लू०एच०, *दि एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया,* कैम्ब्रिज, 1929

राधेश्याम, *मुगल सम्राट 'बाबर',* पटना, 1974

राय, अतुलचन्द्र, *ए हिस्ट्री ऑफ मुगल नेवी एण्ड नेवल वारफेयर्स,* कलकत्ता, 1972

रिचर्ड जॉन, *दि मुगल एम्पायर,* रवीश पब्लिर्शस, पूना,

लेट, जोन डि०, *दि एम्पायर ऑफ दि ग्रेट मुगल्स,* बम्बई, 1928

वर्मा, हरिश्चन्द्र (सं०), *मध्यकालीन भारत,* दिल्ली विश्वविद्यालय, 2003

शर्मा, श्रीराम, *दि रीलिजियस पॉलिसी ऑफ दि मुगल एम्पायर्स,* ऑक्सफोर्ड, 1940

शर्मा, श्रीराम, *मुगल गवर्नमेण्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन,* बम्बई, 1951

शरण, परमात्मा, *स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री,* दिल्ली, 1952; *दि*

प्राविन्शियल गवर्नमेण्ट ऑफ दि मुगल्स, इलाहाबाद, 1941; *इस्लामिक पालिटी*

श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल, *अकबर दि ग्रेट,* भाग-1, आगरा, 1964, भाग-2, आगरा, 1967

श्रीवास्तव, हरिशंकर, *मुगल सम्राट हुमायूँ,* आगरा; *मुगल शासन प्रणाली,* 1989

सईद, मियाँ, मुहम्मद, *दि शर्की सल्तनत ऑफ जौनपुर,* करांची, 1972

सक्सेना, बनारसीप्रसाद, *हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली,* 1932; *मुगल सम्राट शाहजहाँ,* 1974

सतीशचन्द्र, *पार्टीज एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ दि मुगल कोर्ट,* अलीगढ़, 1959; *उत्तर मुगल कालीन भारत का इतिहास,* मेरठ, 1974

सरकार, जदुनाथ, *हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब* (5 भाग में), कलकत्ता; *मिलिट्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,* कलकत्ता, 1960; *मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* कलकत्ता, 1935; *फाल ऑफ दि मुगल एम्पायर* (भाग-1), 1932; *एनेक्डोट्स ऑफ औरंगजेब,* कलकत्ता, 1942

सागर, सत्यप्रकाश, *क्राइम एण्ड पनिशमेंट इन मुगल इण्डिया,* दिल्ली, 1967

सिद्दीकी, नोमान अहमद, *लैंड रेवेन्यू एडमिनिस्ट्रेशन अण्डर दि मुगल्स,* बम्बई, 1970

हबीब, इरफान, *दि एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इण्डिया,* एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1963; *अकबर एण्ड हिज इण्डिया,* रवीश पब्लिशर्स, पूना; *दि सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दी मुगल एम्पायर; मेडिवियल इण्डियन रिसर्चस इन दि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,* 1200-175०, रवीश पब्लिशर्स

त्रिपाठी, रामप्रसाद, *राइज एण्ड फाल ऑफ दि मुगल एम्पायर,* इलाहाबाद, 1955

त्रिवेदी, के०के०, आगरा, *इक्नॉमिक एण्ड पॉलिटिकल प्रोफाईल ऑफ मुगल सूबा,* 1580-1707, रवीश पब्लिशर्स, पूना

प्रमुख लेख

कुरैशी, आइ०एच०, *दी परगना ऑफिशियल्स अण्डर अकबर, इस्लामिक कल्चर,* भाग सोलह, 1942, पृ० 87-93

शर्मा, श्रीराम, *सम मैनुअल्स ऑफ मुगल एडमिनिस्ट्रेशन,* प्रोसीडिंग्स ऑफ दि *इण्डियन हिस्टारिकल रेकार्ड्स कमीशन,* भाग 15, 1938, पृ० 146-58; *एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन औरंगजेब टाइम्स,* इण्डियन हिस्टारिकल्स क्वाटरली, भाग-21, 1945, पृ० 101-4

●

परिशिष्ट - 1

परिभाषाएँ

अक़्ता—इसका अनुवाद प्रायः भूल से जागीर किया जाता रहा है किंतु अक़्ता वह भूमि कहलाती थी जिसकी आय सेना के सरदारों को सेना रखने तथा उसका उचित प्रबंध करने के लिए दी जाती थी। सेना में कार्य करने के योग्य न होने पर यह भूमि अक़्तादारों से वापिस ले ली जाती थी और दूसरों को दे दी जाती थी।

अतालीक—संरक्षक तथा शिक्षक जो शहज़ादों के लिये नियुक्त किए जाते थे।

अबवाब—विभिन्न प्रकार के कर जो वैध या अवैध रूप से वसूल किये जाते थे

अमल गुज़ार—जिले का राजस्व अधिकारी।

अमलाक—अमलाक अथवा मिल्क वह भूमि होती थी जिसे धर्म संबंधी तथा अन्य दान के कार्यों के लिए प्रदान किया जाता था और यह पिता से पुत्र को पहुँचती रहती थी।

अमीर—सरखेलों तथा सिपहसालारों का अफसर अमीर कहलाता था।

अमीर-उल-मुमीनीन—धार्मिक मतभेदों में अन्तिम निर्णय देने वाला।

अमीर-ए-उम्दा, अमीर-ए-आज़म—25,000 के ऊपर के दर्जे के मनसबदार को अमीर-ए-उम्दा तथा अमीर-ए-आज़म कहते थे।

अमीर दाद—सुल्तान की अनुपस्थिति में दीवाने मजलिस का अध्यक्ष और एक बहुत बड़ा अधिकारी। यह दादबक भी कहलाता था।

अमीराने तुमन—दस हजार सैनिकों का अधिकारी।

अमीराने सदा—सौ सैनिकों का अधिकारी।

अमीराने हजारा—एक हजार सैनिकों का अधिकारी।

अमीरे पंजाह—पचास सैनिकों का अधिकारी।

अमीरे बहर—नौकाओं का प्रबंध करने वाला अधिकारी।

अल-अली-अल-खलीफात-अल-मुता-अली—महान प्रतिष्ठित सुल्तान व खलीफा।

अलखाकान-अल-मुअज्जम—प्रसिद्ध सम्राट।

अलफा—प्रत्येक घुड़सवार का वेतन।

अल्तमगा जागीर—अमीरों को अपना परिवार एक स्थान पर रखने के लिए दी जाने वाली जागीर।

अब्जद—अरबी अक्षरों का वह क्रम जिसमें प्रत्येक अक्षर का मूल्य एक से हजार तक क्रमशः निश्चित है। इन अक्षरों की सहायता से घटनाओं की तिथियाँ निकाली जाती हैं।

अहशाम—नौकर।

आखुरबक—शाही घोड़ों की देखभाल करने वाला एक उच्च अधिकारी।

आफ्ताबगीर—मुगल सम्राटों द्वारा प्रयुक्त अण्डे की शक्ळ का एक गज ऊँचा मखमल तथा सुनहरे काम का सायबान।

आबदारखाना—बादशाहों के लिये पेय वस्तुओं का प्रबन्ध करने वाला विभाग।

आमिल—साधारणतया ग्रामों में भूमि-कर वसूल करने वाला पदाधिकारी।

आलमगीर—विश्व विजयी।

आवारिज़ा—अनुमानित आय-व्यय-वसूली का अभिलेख।

आरिजे ममालिक—यह दीवाने अर्ज (सैन्य विभाग) का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। इसके सहायक नायब अर्जे ममालिक अथवा नायब आरिज कहलाते थे।

आवकशां—शाही भोजनालय में पानी भरने वाला कर्मचारी।

इब्तियाखाना—क्रय विभाग।

इमारत-ए-खम्सा—बंगाल का सूबेदार।

इमारत-ए-तफवीद—दिल्ली के आस पास के प्रान्तों का सूबेदार इमारत-ए-तफवीद कहा जाता था।

इतलाकी—वह भूमि जिसका प्रबंध सुल्तान अपने द्वारा नियुक्त किये हुए कर्मचारियों से करवाता था।

इदरार—विद्वानों तथा धार्मिक लोगों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता।

उश्र—इस्लामी राज्य में मुसलमानों की कृषि-भूमि को उश्री भूमि कहते थे। उश्री भूमि पर लिए जाने वाले लगान को उश्र कहते हैं।

उम्मत—इस्लाम में आस्था रखने वालों का समुदाय।

उलेमा—इस्लाम के धर्मशास्त्र का ज्ञाता।

करावलबेगी—शिकारगाह का प्रमुख अधिकारी।

करोड़ी व्यवस्था—खालसा भूमि का ऐसे बराबर भागों में विभाजन जिनकी मालगुजारी एक करोड़ दाम अर्थात् 2½ लाख रुपये हो।

क़ाज़ी—न्यायाधीश, जो मुकदमों का निर्णय शरा के अनुसार करते थे।

क़ाज़ी-ए-अस्कर—राजधानी के सैनिक क्षेत्र के लिये नियुक्त क़ाज़ी।

कायदा—विनियम अर्थात दाग लगाने के लिये मनसबदार निजी घोड़ों और हाथियों को अलग-अलग लायेगें।

कारकुन—भूमि-कर का हिसाब-किताब रखने वाला।

कालातुरान—विशेष सुविधा प्राप्त किसान।

कियास—इस्लामी धर्मशास्त्र का एक स्रोत, जिसके अनुरूप मुकदमों का निर्णय नजीर के आधार पर किया जाता है।

किरकिराखाना—शाही वस्त्र विभाग।

किसास—वह दराड जिसे वादी क्षमा भी कर सकता है।

कुफ्र—अल्लाह और मुहम्मद साहब पर विश्वास न रखना।

कुब्बा—एक प्रकार का तोरण, द्वार या गुंबद जिसे खुशी के मौके पर मार्गों में सजाया जाता था।

कुरखाना—शस्त्र विभाग।

कोतवाल—यह नगर की देखभाल करने वाला अधिकारी होता था। रात के समय उसके सैनिक नागरिकों की सुरक्षा के लिए पहरा देते थे। नगर की सुरक्षा का संपूर्ण भार इसी पर था। किलों के अधिकारी भी कोतवाल कहलाते थे।

खजान-ए-उमरा—भू राजस्व के लिये मुगल प्रान्तों में स्थापित विशेष कोष।

खम्स—युद्ध में प्राप्त लूट के माल का $1/_5$ प्रतिशत कर।

खरवार—गधे के बोझ के आधार पर लगान तय करना।

खरीतादार—फरमानों को भेजने वाला अधिकारी।

ख्वाजा—सुल्तान के वजीर की सिफारिश से नियुक्त किया जाने वाला एक अधिकारी जो हिसाब-किताब के काम में प्रवीण होता था। प्रत्येक अक्ता में एक ख्वाजा रखा जाता था। मुक्ता के अधीन होने पर भी सुल्तान द्वारा नियुक्त होने के कारण उसे विशेष अधिकार प्राप्त होते थे। इसे 'साहिबे दीवान' भी कहा जाता था।

खलीफा—मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी खलीफा कहलाते थे। उमय्या तथा अब्बासी वंश के सम्राट भी खलीफ़ा कहे जाते थे।

खान—सरखेलों, सिपहसालारों, अमीरों तथा मलिकों का अफसर खान कहलाता था।

खानक़ाह—वह स्थान जहाँ सूफी संत रहते थे।

खालसा भूमि—वह भूमि जिसका प्रबंध सुल्तान की ओर से होता था और जिससे होने वाली आय केंद्रीय सरकार के लिए सुरक्षित रहती थी। इसमें से किसी को भी कोई भाग अक्ता के रूप में नहीं दिया जा सकता था।

खासा केल—शाही महल से संबंधित सेना।

खानादार—सुल्तान के अस्त्र-शस्त्रों का प्रबंध करने वाला अधिकारी।

खिर्का—वह ऊपरी वस्त्र जिसे शेख पहनते थे।

खिराज—गैर-मुसलमानों पर लगाया गया भू-राजस्व

खिल्लत—वह वस्त्र जो सुल्तानों की ओर से इनाम में दिया जाता था।

खिलवतखाना अथवा गुसलखाना—गोपनीय मन्त्रणा कक्ष।

ख़ुत्बा—उस व्याख्यान को कहते हैं जो दोनों ईदों तथा जुमे की नमाज के समय पढ़ा जाता था। इसमें ख़ुदा की स्तुति तथा मुहम्मद साहब की प्रशंसा के उपरांत तत्कालीन बादशाह का वर्णन होता था।

खुद-काश्त—वह किसान जो स्वयं भूमि पर खेती करता था।

खुम्स—लड़ाई में हासिल किया गया लूट का माल। इस्लामी कानून के अनुसार इस लूट का 1/5 भाग शाही खजाने में जाना चाहिए और शेष भाग सैनिकों में बाँटा जाना चाहिए।

खुफिया नवीस/सवाहनीह—आवश्यक जानकारी बादशाह तक पहुँचाने वाला।

खुराक-ए-अस्पान—घोड़ों के खर्च के लिये वसूल किया जाने वाला कर।

खैर-दख्ती—प्रति पेड़ कर।

गज-ए-इलाही—भूमि के नाम की ईकाई जो 41 अंगुल के बराबर थी जिसमें 33 इंच थे, जिसे अकबर ने शुरू किया।

गज-ए-सिकंदरी—भूमि की पैमाइश की ईकाई जो 31 अंगुल थी अर्थात् 60×60 फुट बराबर भूमि।

गल्ला बख्श—उपज का विभाजन सरकार और किसान के मध्य करके लगान तय करना।

चकला—कुछ परगनों को मिलाकर बनाई ईकाई।

चौधरी—परगना का मुख्य अफ़सर।

जकात—एक प्रकार का कर जो मुसलमानों को अपनी धन-संपत्ति पर देना पड़ता था। यह कर मुसलमानी राज्य में भी केवल मुसलमानों से लिया जाता था।

जिन वस्तुओं पर जकात लगता था उसमें सोना, चाँदी, पशु तथा व्यापार आदि प्रमुख थे।

जजिया—एक प्रकार का कर जिसे गैर-मुसलमानों (जिम्मियों) से वसूल किया जाता था। ये लोग अनिवार्य सैनिक सेवा से मुक्त थे।

जब्त-सम्पति—बेनामी सम्पति, हादसे की शिकार सम्पति, टूटे जहाज आदि।

जब्ती—लगान निर्धारण के लिये बनाई मानक सारिणी।

जमादारी—जागीर देने के लिये किसी भू क्षेत्र का राजस्व आकलन।

जमा रकम कलमी—कागज़ों में दर्ज मालगुजारी।

जमा हाल हासिल—वास्तविक मालगुजारी।

जरीबाना—भूमि पैमाइश करने वाले अधिकारी को दिया जाने वाला कर।

जवाबित—राज्य के कानून।

जहाँदारी—शासन-प्रबंध या राज्य-व्यवस्था।

जागीर-ए-तनख्वाह—वेतन के बदले में दी जोन वाली जागीर।

जात—मनसबदार का व्यक्तिगत पद।

जाबिताना—भूमि की पैमाइश में होने वाला खर्च।

जिम्मी—किसी देश पर विजयोपरांत भी जो प्रजा इस्लाम स्वीकार न करती थी और जजिया देना स्वीकार कर लेती थी। उन्हें जिम्मी कहा जाता था।

जिन्सी—हल्का तोपखाना।

जिल्ले-इलाही—खुदाई अर्थात दैवी सत्ता।

जीतल—यह 1 तोले से 3/4 तोले तक का ताँबे का सिक्का होता था।

जेहाद—इस्लाम के प्रसार के लिये युद्ध।

टंका—मुख्य मुद्रा इकाई, यह एक तोला सोने या चाँदी का होता था।

तकसीम-उल-मुल्क—किसी परगने की भूमि एवम् उपज मिलाकर लगान का निर्धारण।

तकावी—बकाया करों की वसूली।

तज़्कीर—एक प्रकार क़ा धर्मोपदेश। युद्ध आदि संकट के समय इसका विशेष महत्त्व समझा जाता था। इसमें इस्लामी इतिहास से कुछ ऐसी बातें प्रस्तुत की जाती थीं जिन्हें सुनकर लोग खुदा पर विश्वास करके प्रत्येक कठिनाई का सामना करने के लिए तैयार हो जाते थे।

तफसीर—कुरान का अनुवाद तथा समीक्षा।

तरकत—स्वतन्त्र व्यक्ति। स्वतन्त्र व्यक्तियों को ही सेना में भर्ती किया जाता था।

तलिआ—सेना का अग्रिम भाग जो शत्रुओं का पता लगाने तथा पहरें आदि के लिए नियुक्त किया जाता था।

ताज़ीर, तहवीलदार—जिन अपराधों का हद्द व किसास में उल्लेख न हो।

ताजीह—विवरण नामावली।

तुमार-ए-जमा—खालसा भूमि का लगान सम्बन्धी प्रपत्र।

तौक—हँसली। बंदियों के गले में पहनाई जाती थी। जिससे वह भाग न पायें।

तौकी—शाही मुहर से जो आदेश निकाले जाते थे वे अहकामें तौकी कहलाते थे। अधिकारियों की आदेश, नियुक्ति पत्र आदि अहकामें तौकी द्वारा ही निकाले जाते थे।

दंदान-ए-फिल—हाथी दाँत विभाग।

दंदान-ए-माही—मछली का दाँत।

दखली काश्तकार, मुजारे किसान—स्वामी को लगान देने के बदले जमीन जोतने वाला किसान जिसे लगान न देने पर बेदखल किया जा सकता था।

दबीर—यह शाही पत्रव्यवहार के विभाग का एक अधिकारी होता था। इस विभाग का अध्यक्ष वजीरे ख़ास कहलाता था।

दरोगा-ए-तोपखाना—तोपखाने की व्यवस्था देखने वाला।

दस्ती—भारी तोपखाना।

दस्तूर-अमल—राजस्व सम्बन्धी नियमों का संकलन।

दादबक—देखिए अमीर दाद।

दारूल इस्लाम—इस्लाम को मानने वालों का संसार।

दारूल हरब—गैर मुस्लिम संसार।

दीनपनाही—इस्लाम की रक्षा तथा उसका ध्यान।

दीनार—सोने का एक सिक्का जो लगभग 96 जौं के बराबर होता है।

दीवानी—वित्त विभाग का सचिवालय।

दीवाने अर्ज—युद्ध विभाग को दीवाने अर्ज कहा जाता था।

दीवाने-आला—वज़ीर अर्थात् मन्त्री।

दीवाने-खालसा—राजस्व मन्त्री।

दीवाने-तन—वेतन अधिकारी।

दीवाने-विज़ारत—राजस्व विभाग।

दीवाने-वयूतात—वित्त विभाग का अधिकारी/कारखानों का अधिकारी।

दीवाने क़ज़ा—साधारण झगड़ों के बारे में निर्णय देने वाला विभाग।

दू-अस्पा—वह सैनिक जो दो घोड़े रखता था।

दू-अस्पा सेह अस्पा—यह एक प्रशासनिक वाक्य है जिसका अर्थ है मनसबदार के निर्दिष्ट सैनिक दस्ते का दुगना हो जाना।

देसमुख—महाराष्ट्र में जमींदार के लिये प्रयुक्त शब्द।

देह बाशी—दस का मनसब।

दैसाई—गुजरात क्षेत्र में यह शब्द जमींदारी के लिये प्रयोग किया जाता है।

नक्खाश—पशु बिक्री करने पर लगने वाला कर। जहाँ पशु रखे जाते थे उसे नक्खाशखाना कहते थे।

नजर—बधाई तथा खुशी के अवसर पर दी जाने वाली भेंट।

नववारा—युद्धपोतों के रख रखाव का विभाग जो मीर-बहरी के अन्तर्गत था।

नाज़िम—प्रान्तपति।

नाजिर—मुशरिफ के आधीन कर्मचारी।

नानकार—कानूनगो द्वारा वसूल किये गये लगान की एक प्रतिशत दस्तूरी।

नायक बारबक—दरबार के समस्त कार्यों का प्रबंध करने वाले कर्मचारियों का अफसर बारबक कहलाता था। अमीरों तथा अधिकारियों के खड़े होने तथा दरबार के शोभा-कार्य का प्रबंध उसी का कर्तव्य होता था। उसके सहायक 'नायक बारबक' कहलाते थे।

नायब—नायब का अर्थ 'उप' होता है। सुल्तान राजधानी छोड़ते समय अपना नायब नियुक्त कर दिया करते थे।

निखनामा-ए-अजलास—राजसी कर्मचारियों के हस्ताक्षर से प्रदत्त वस्तुओं के भावों की सूची।

नियामत—ईश्वरीय देन।

नीम सवारान—दो घुड़सवारों के बीच एक घोड़ा।

नूर—प्रकाश/रोशनी।

नौबत्—नौबत में नगाड़ा, तुरही, बिगुल, झांझ, बाँसुरी आदि बाजे सम्मिलित होते थे। नौबत केवल सुल्तान की उपस्थिति में ही अथवा राजधानी में बज सकती थी।

परवाना—उच्च अधिकारी के द्वारा अपने से निम्न अधिकारी को लिखा पत्र।

पायक—पैदल सैनिक।

पायगाह—शाही घोड़ों की नस्ल तथा घोड़ों का प्रबंध करने वाला विभाग।

पेशकश—सम्राटों तथा बड़े अधिकारियों से मिलने के लिये दी जाने वाली भेंट।

पैबाकी—वह भूमि जो किसी कर्मचारी को कुछ कार्य विशेष के बदले कुछ समय के लिये दी जाये। उसे समय बीतने पर वापस ले लिया जाता था, ऐसी भूमि पैबाकी कहलाती थी।

फ़तवा—किसी समस्या का शरा के अनुसार निर्णय। मुफ्ती का मत।

फतवाह-ए-आलमगीरी—मुस्लिम कानूनों का संग्रह।

फर्र-ए-इज़्दी—खुदाई नूर/प्रकाश।

फरमान—राजसी आज्ञापत्र।

फ़रमाने तुगरी—वह फरमान जिस पर सुल्तान की खास मुहर लगी हो। भूमि संबंधी फ़रमान फ़रमाने तुग़रा कहलाते थे।

फरमाने साब्ती—उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का पत्र।

फरावां-रजं-रफ्ती—दहसाला प्रणाली। जिसका अर्थ था पिछले दस वर्ष की औसत पैदावार और कीमतों के आधार पर लगान तय करना।

फर्राशखाना—शाही तम्बुओं आदि का विभाग।

फ़वाजिल/फ़ाजिल—अधिशेष भू-राजस्व।

फ़िकह—इस्लामी धर्मनीति के ज्ञान को फ़िकह कहते हैं।

फोतदार—कोषाध्यक्ष।

फौजदार—एक सैनिक अफसर।

बंजारा—घुमक्कड़ अनाज-व्यापारी, कारवानियान।

बरीद—समाचार वाहक। बरीद का कार्य बादशाह को प्रत्येक प्रकार की सूचना से अवगत कराना होता था। इस विभाग का सबसे बड़ा अफसर बरीदे ममालिक कहलाता था।

बलाहर—साधारण किसान को ही संभवतया बलाहर कहा जाता था।

बितिकची—लिपिक।

बिसवा—बीघे का बीसवाँ भाग।

बीघा—60 × 60 फुट बराबर भूमि।

बैतुलमाल—जब्त सम्पत्ति का खजांची तथा विभाग।

मत्बख—शाही भोजनालय।

मफरूज—संभवतया वह जमीन जो किलों की सेना के खर्च के लिए नियत कर दी जाती थी।

मदद-ए-माश—विद्वानों और धार्मिक व्यक्तियों को दिया जाने वाला अनुदान।

मरातिब—सेना की श्रेणियों को मरातिब कहा जाता था।

मलिक—सरखेल, सिपहसालार तथा अफसर मलिक कहलाता था।

मवास—घने जंगल या पहाड़ आदि की तरह का वह स्थान जहाँ विद्रोही रक्षा के लिए छुप जाते थे।

मशरूत—किसी सैनिक को फौजदार या किलेदार नियुक्त करने पर उसके सवार पद में सअवधि वृद्धि, जो पद की समाप्ति पर वापस ले लिया जाता था।

मसाहत—भूमि की पैमाइश।

महज़र—अमोघ आज्ञापत्र। विवादास्पद धार्मिक मामलों में अन्तिम निर्णय देने का विशेष अधिकार।

महसिलाना—लगान वसूल करने वाले कर्मचारी को दिया जाने वाला कर।

महसूल—जागीर से प्राप्त होने वाली वास्तविक आय।

महसूल/राहदारी—रास्ते से गुज़रने पर कर।

मिल्क/सुयुरगल—अनुदान में दी गई भूमि।

मिल्क (मदद-ए-माश सुयुरगल)—इसका अर्थ संपत्ति है। किंतु विद्वानों को तथा धार्मिक कार्यों के लिए प्रदान की जाने वाली भूमि ही मिल्क कहलाती थी और वह वंशानुगत होती थी।

मिल्लत—इस्लाम को मानने वालों में आपसी भाईचारा।

मीर-ए-अर्ज—पेशकार। आवेदन पत्रों को स्वीकार करने वाला कर्मचारी।

मीर-ए-अदल—प्रान्तीय काज़ी जो जिला स्तर के काज़ियों की नियुक्ति करे।

मीर बकावल—शाही भोजनाल्य का अधिकारी।

मीर-ए-बख्शी—सैन्य विभाग का मन्त्री।

मीर-ए-सामान—शाही खजाने तथा अस्त्र-शस्त्र, शाही महलों की देखभाल करने वाला केन्द्रीय मन्त्री।

मुक्ती/कानकूत—सम्पूर्ण भूमि की नाप करके तथा खड़ी फसल का आकलन करके लगान तय करना जो बटाई का रूप था।

मुकद्दम—गाँव का मुखिया मुकद्दम कहलाता था।

मुकद्दमें—सेना का वह भाग जो मुख्य सेना से आगे युद्ध करने के लिए अथवा

शत्रुओं का पता लगाने के लिए जाता था। यह एक प्रकार की अग्रगामी सेना थी।

मुकातेआ—किसी भूमि के लिए ठेके पर सबसे अधिक कर अदा करने वाले।

मुक़्ता—बड़ी अक़्ता के स्वामी मुक़्ता कहलाते थे। जिन्हें वली भी कहा जाता था।

मुज्तहिद—इस्लामी धर्मशासत्र का ज्ञाता।

मुतसद्दी—बंदरगाह का प्रमुख अधिकारी।

मुतसर्रिफ़े—गाँवों में किसानों से भूमिकर वसूल करने वाले अधिकारी।

मुशरिफ़-ए-कुल-ओ-जुज—कारखाने का लेखपाल।

मुशरिफ़े ममालिक—यह राज्य का महालेखाकार होता था। यह राज्य की आय पर नियंत्रण रखता था। इसकी सहायता के लिए एक नाजिर होता था जो अपने सहायक कर्मचारियों के द्वारा समस्त राज्य की आमदनी के हिसाब की देखभाल करता था।

मुस्तौफ़ी—राज्य के हिसाब-किताब की जाँच करने वाला अधिकारी।

मुहतसिब—समस्त गैर-इस्लामी बातों को रोकने वाला अधिकारी। शरा के नियमों के पालने के विषय में देखरेख इसी अधिकारी द्वारा होती थी। वह स्वयं दंड देकर शर के विरुद्ध होने वाली बाते रोक सकता था।

मैमार—भवन निर्माण करने वाले इंजीनियरों को मैमार कहा जाता था।

मौजा/डीह—कई गाँवों को मिलाकर बनाई एक ईकाई

यक अस्पा—साधारण मूरत्तब सैनिक जिसके पास एक घोड़ा होता था।

रैयत—किसान।

वक़ीलदार—शाही महल तथा सुल्तान के विशेष कर्मचारियों का प्रबंध करने वाला सबसे बड़ा अधिकारी।

वक़्फ़—वह धन-संपत्ति अथवा भूमि जो धार्मिक कार्यों के लिए सुरक्षित कर दी जाती थी।

वज़ीर—प्रधानमंत्री को वज़ीर कहते थे। राज्य का शासन-प्रबंध तथा वित्त-विभाग उसी के अधीन होता था। उसके सहायक नायबे-वजीर कहलाते थे।

वली—प्रांत का हाकिम जिसे हर प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। वह प्रांतों में सुल्तान का प्रतिनिधि होता था।

विलायत—प्रत्येक राज्य भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित था। राज्य का सबसे बड़ा भाग अथवा प्रांत या प्रदेश विलायत कहलाता था।

शरिअत—मुहम्मद साहब के बताए हुए नियम एवं इस्लामी सिद्धांत इस्लामी शरिअत के नाम से प्रसिद्ध है। इस्लामी नियमों एवं सिद्धान्तों के लिए शब्द 'शरा' का प्रयोग होता है।

शाहजहाँ—सारे विश्व का शासक।

शाहनाये इमारत—भवनों का निर्माण।

शिक्/शिकादार—जिला/जिले का अधिकारी।

सद्र-उस-सुदूर—धार्मिक विभाग का प्रमुख मन्त्री।

सनद—दान पत्र।

सरखैल—दस घुड़सवारों का नायक।

साहब करान-ए-थानी जहाँगीर—विश्व विजेता।

सिफ्त-ए-कदसी—ईश्वरीय गुणों का पुंज।

हज़्म-ए-उम्मत—मुस्लिम जनता की आम राय।

हज़रत-पादशाह खिलाफत, पनाह हकीकी मजूज़ी—सर्वोच्च धार्मिक तथा लौकिक शक्ति सम्पन्न बादशाह।

हाकिम-ए-आदिल—न्यायकर्त्ता शासक।

हाज़िब—बारबक के अधीनस्थ अधिकारी। वे राज्य दरबार में दरबारियों के मध्य खड़े होते थे तथा उनकी अनुमति के बिना सुल्तान तक कोई नहीं पहुँच सकता था। उनका सरदार अमीरे हाज़िब कहलाता था, समस्त प्रार्थनापत्र अमीरे हाज़िब द्वारा ही सुल्तान तक पहुँचा सकते थे।

हुलिया—सैनिकों का पूर्ण विवरण।

●

APPENDIX - 2

THE JIZIYAH

—Dr. P. Saran

Different interpretations of the *Jiziyah* have been given in the past, but there is a tendency among modern scholars to view it from a fresh standpoint altogether. It therefore seems necessary to state the theory of the *Jiziyah* in the words of the authoritative expounders and doctors of Muslim jurisprudence as well as to trace the history of the manner in which theory was applied in actual practice by the Muslim rulers with special reference to India.[1]

The whole theory and law of the *Jiziyah* has been dealt with in an exhaustive and lucid manner by N.P. Aghnides in his 'Theories of Muhammadan Finance', and I may be pardoned for drawing freely upon the translation which he has given of the relevent exposition and commentaries of Islamic Jurists.

The *Jiziyah* was levied on those persons who being non-Muslims were admitted to the status of *zimmis,* and not on all non-Muslims. 'The word *Jiziyah' says 'Aghnides is* derived from *Jaza,* meaning compensation, requital for good or evil. This tax ownes its name to the fact that it is taken from the *zimmis* as a punishment for their unbelief, inorder to humilitate them, or it may be, by way of mercy, as a price for the protection given them by the Muslims.'[2]

'The collection of the *Jiziyah'*, continues Aghnides, 'is based on the divine words':[3] "Make war upon such of those to whom a scripture has been given, as do not believe in God, nor in the last day...until they pay by their hands the *Jiziyah* in order to be humiliated." The *zimmis* by paying the *Jiziyah*

1. Here I am concerned with merely tracing the historical development of the theory and practice of the *Jiziyah.* Whether it is warranted by the Quran or the teachings of the Prophet, is a question which will be discussed in the concluding part of this appendix.
2. *Aghnides,* 398
3. *Quran, Sur,* 9, verse 29.

become entitled to two rights : security from molestation and protection. By virtue of the first right they become safe (*amin*) and of the second, proteges (*mahrus*).

'According to the Hanifite doctors, the tax is called *Jiziyah* because it is paid by the dhiminis as a compensation (*jaza*) for being spared from death; since by the payment of the *Jiziyah* the non-Muslims purchase their lives and may no longer be killed. Al-Sarakhsi, in this connection, remarks that the infidel who lives in the Moslem state is subjected to the payment of the *jiziyah* for his humiliation and punishment so long as he persists in his unbelief, and in order to impress him with the degradation of unbelief and the power of Islam. According to him the *jiziyah* is taken from the *dhimmis* in lieu of the assistance which they would be liable to give if they had not persisted in their unbelief, because, living as they do in the Moslem state, they must be ready to defend it. However, since they do not embrace Islam, they are not fit for such assistance in person because they would be favourably inclined towards the enemy. Consequentiy, instead of personal service they are required to give part of their wealth, which is spent on the Moslem soldires who defend the state; and exactly as the poor Moslems take part in the war as foot-men, and the rich as horsemen, so the amount of the monetary equivalent eollected from the *dhimmis*[2] varies according to their means. Some say that the *jiziyah* collected from the zimmis is a rental for residing in the Moslem state, but the former view is preferable : for if the later view were true, women and children also would be liable to pay the tax, which they are not, because they are not liable for the defence of the ccuntry.

To elucidate the implications of the *jiziyah*, it will be of further help to know that the privilege of escaping by paying the *jiziyah* was not eonceded to the inhabitants of Arabia. 'Within Arabia itself no non-Muslims were permitted to live. It was preserved.....as a breeding ground for defenders of the faith, and as a sacred soil not to be polluted by the foot of an unbeliever.'[1] The Arab therefore had no choice accept either Islam or death. This condition not being found feasible to impose on the people of other countries, some device was necessary to be forged whereby the *non-Muslims* who had no

1. *Macdonald*, 15.
2. Dhimmis is used for Zimmis by certain scholars.

natural or original right to be subjects or members of a Muslim state, could be allowed to exist within it, and enjoy its protection, This device was the *jiziyah,* that is to say, compensation or price which every unbeliever who wanted to live in a Muslim state should pay for being allowed to enjoy the privilege of residing in it. The rudimentary Muslim state, as conceived by its founders, did not contemplate the inclusion within it of any non-Muslims. It was not faced with that problem in its earliest stages. When, however, the Arbian Muslims conquered the Christian and Jewish countries of Palestine and Trans-Jordiana, they found it impossible either to compel the entire population to embrace Islam or to exterminate them. The doctors of the Law, therefore, never to be beaten in their ingenuity to meet such embarrassing situations, propounded the doctrine of the *jiziyah.* Such was the origin or genesis of the *jiziyah,* according to the views expressed by the Muslim jurists.

The next stage consisted of further expositions and elaborations of this doctrine by the different authoritative Islamic jurists, and their views which have been reproduced above from Aghnides may be summarised as follws :

First, that the Muslim state has no place for a non-Muslim within it, and hence if a non-Muslim must be allowed to live in it or to enjoy its protection, he must pay a price for this favour, which is the *jiziyah.* Second, because the non-Muslim persists in his unbelief and refuses to embrace the *faith,* he must be punished by being subjected to abject humiliation and contempt. Third, it is intended that the non-Muslim must realise that he does not enjoy the status of a citizen in a Muslim state, and that therefore he is allowed to exist in it only on the sufferance of the *Khalifah* or the ruler. Fourthly that because the non-Muslim *in strict theory can not* be allowed to fight on behalf of the Muslim state, he must pay for the expenses of the arms of the faithful who fight for the faith. Thus there are two payments involved in the *jiziyah* : (1) The price for the privilege of being allowed to exist within the Muslim state, and (2) a sort of *wergild* as a compensation for their not fighting the wars of the Muslim state. In actual practice, however, no distinction was ever made between these two counts of payment because the *jiziyah* was collected in war as well as in peace time. If it was levied merely in lieu of assistance which they (the non-

Muslims) would have given in war if they had embraced the faith, the *jiziyah* would not have been collected in war time. The exemption which was made in the case of women and children, the insane, the imbecile and the destitute or disabled people, and slaves and monks, was dictated by a practical necessity as these classes of people being unable to earn, could not pay any thing. According to one view the poor who are unable to pay should be ousted from the Muslim country; according to another they are subject to the *jiziyah* like others.[1] To sum up then, the *jiziyah* was imposed with a twofold object; (1) To make the *zimmi* pay for certain *advantages* which he as non-Muslim was not entitled to, but was allowed to enjoy, and (2) to subject him to humiliation and dishonour and to make him feel his inferior and contemptible position.

Before dealing with the extent to which this theory or the *jiziyah* was actually enforced by Muslim rulers in India we must briefly notice certain essential details connected with it.

Who were eligible for the privilege of the jiziyah

As has been noted already the *jiziyah* could be levied only on *dhimmis*. All non-Muslims are not necessarily *dhimmis* unless and until they are recognised as such. There is a wide divergence of opinion among doctors of the Islamic Law as to who should be admitted to the status of *dhimmis*. The most liberal school is that of the Malikites who allow 'all persons who may be made slaves, i.e., all *kafirs*, even including the Quraysh, to the status of *dhimmi*, the only exception being the *apostates* who cannot be so admitted. As against this the school of al-Shafi excludes all except those who have a scripture, i.e., Christians and Jews, and also the fire-worshippers. The Hanifite school, however, would admit even the idolators on the ground that they can be made slaves. The Arab idolators were excluded from the privilege of paying the *jiziyah*, for the Prophet was sent from among them and the miracles were performed before their eyes.[2]

Two kinds of jiziyah

There are two kinds of *jiziyah* : one, the *jiziyah* imposed

1. *Aghnides*, 405
2. *Ibid*, 400

by treaty, the amount of which has been fixed by the terms of the agreement and may not be afterwards changed.[1] In this the Shafite and Hanifite schools hold that the rate of the jiziyah should never be less than one *dinar* per head.[2] The various schools authorise the *Imam* to settle the terms of the jiziyah. The second kind of jiziyah is that which is imposed by the *Imam* upon a people conquered by force of arms. In this case the early rates are 48, 24 and 12 dirhams from the rich, middle and poor classes respectively.[3] In India it was realised in *tankas* and rupees instead of dinars and dirhams.

The jiziyah becomes due in the beginning of the year, but concerning its realisation there are different views. According to Abu Hanifa it may be collected two or three days before the close of the year. According to others at intervals of two or three months. The jiziyah becomes cancelled by conversion to Islam, by Death and even by non-collection according to Abu Hanifah. The others however, do not agree with the last condition.[4]

The manner iu which the jiziyah should be paid

With the exception of Abu Yusuf, the greatest commentator and exponent of Abu Hanifa's school, his later exponants as well as the schools of Al Shafii and Maliki, agree in the view that when the *dhimmi* comes to pay the *jiziyah*, he should keep standing while the collector is seated, and he must wear the distinctive dress prescribed for the *dhimmis*. During the process of payment the *dhimmi* is seized by the collar and vigorously shaken and pulled about (according to one view, he should be seized by his beared and slapped on both sides of the face by the collector) and rebuked in these words : 'Oh dhimmi, or Oh enemy of God, pay the jiziyah' As this personal humiliation of the *dhimmi* is a necessary part of the jizyiah, it cannot be paid by proxy. The dhimmi must pay it himself so that this essential object of the jiziyah may be fulfilled.

The only notable exception is that of the generous and humane Abu Yusuf who, far from subscribing to these cynical

1. *Aghnides*, loc, cit.
2. *Ibid*, 401.
3. Opinions differ as to the criterion of determining rich, middle and poor classes.
4. *Ibid*, 405, 6.

views, recommends to the Khalifah, Harun-al-Rashid, gentleness (*rifq*) in the freatment of *dhimmis*. Thus it will be observed that though the majority of the Islamic legists took a very fanatical and narrow view of the jiziyah and its accidents, there was room in it for lessening and tempering the edge and roughness of the humiliation which it was the professed object of the jiziyah to inflict the *zimmi*.

Another object of subjecting the zimmis to such humiliation according to the *Maliktes*, was that the dhimmi therby 'may fell compellied to embrace Islam'[1]. This motive is inherent indeed in all the taxes which were imposed on the infidels, whether dhimmis or not, For instance, according to Baillie, 'the reason which is assigned for the imposition of the tax (*kharaj-i-wazifa*) on the land of unbelivers, and for the conversion of *ushri* to *kharaji* land, when transfered to them, is that being due, whether the land be tilled or not, it is burdensome, and therefore in the nature of a punishment for their unbelief'[2]. The same motive lies behind the imposition of transit duties, octroi and customs on non-Muslim merchants, double that on Muslim merchants, a practice which was followed by the Muslim rulers in India before Akbar and revived by Aurangzeb, besides a host of similar other inequitous impositions.

Practical enforcement of the jiziyah

The actual enforcement of the Jiziyah was conditioned mainly by two factors; viz., the character and temperament of the ruler and the political situation of the state concerned. No law can ever be enforced to the letter, nor was it possible for the Muslim sovereigns to satisfy the letter of the law in levying the jiziyah. At the same time it must be remembered that the ecclesiastical class and the priesthood were, as usual the most obdurate, the most obstinate and the most uncompromising and wooden in their attitude about the enforcement of all religious laws and rules pertaining to the treatment of the non-Muslims. Most divines sincerely believed that it was the duty of every Muslim ruler to act strictly in accordance with the rules of the jiziyah as expounded by the jurists. Those like Abu Yusuf, who might

1. *Aghnides*, 408
2. See *JRAS* (New Saries, 1875) Vol. VII, p. 175

have been inclined to take a generous and considerate view were in an infinitesimal minority and were not effective. There can be no two opinions as to the fact that the conceptions of most prominent divines about the religious duties and obligations of a Muslim king had not undergone any appreciable modification even up to the time of Akbar. This indeed, was the main cause of the decline of the power and influence of the priesthood under the rule of that enlightened emperor.

For the sake of illustration it will suffice to quote the following instances : (1) The extremely ridiculous and inhuman interpretation given of the Quranic injunction, by the well-known qazi of Bayana who expounded the Law for the enlightenment of Alauddin Khalji, (2) the verdict given by the divines of Sikandar Lodi that for that intrepid Brahman who had the audacity to affirm that there was truth in both religions, Islam as well as Hinduism, there was no alternative but to accept Islam or be burnt alive, (3) the similar verdict given by the doctors of the Law to Sher Shah concerning the latter's solemn pledge of safety given to Rai Puran Mal and his family, to the effect that it was not binding at all on a Muslim to fulfil a pledge made with a *kafir*, and that indeed its violation in the cause of Islam, was an act of merit.

In recent times a number of enlightened scholars have, however, made very appreciable attempts to reject all such cynical interpretations of the scriptural Law bearing on the jiziyah and jihad etc. as expounded, elaborated and commented upon by the authoritative Muslim jurists who were founders of the four great schools of Islamic jurisprudence, and by their successors. Modern scholars have turned the new light of scientific criticism upon the scriptural injunctions and have brought to bear upon them a fresh and liberal outlook. No one need or ought to have any objection to these new and healthier ideas and interpretations sought to be given by modern scholars. Indeed they are to be heartily welcomed : but it will be, I venture to aver, a naked injustice to truth and scientific history if it were asserted that the early jurists or their disciples, the Medieval divines and priests and rulers were imbued with the ideals and ideas which are developing in this age and not with those which they themselves unmistakbly profess to have held.

Perhaps a more sound and correct view is that born and nurtured as the infant Islamic creed and community were in hostile environments, they necessarily had to wear the garb of militancy; and it is in the nature of all militant creeds and communities to fortify themselves with doctrines and laws which will serve their object or aggrandisement, It is not necessary here to enter into the various other factors, cultural, social and even physiographical which determined the origin and elaboration of these doctrines on those lines which they followed in different times and countries. Suffice it to say that they were meant only for a certain set of circumstances and were circumscribed by the inevitable limitations of age and environment, The mistake lay in applying them when and where they were, far from being suitable, positively detrimental to the healthy development of society, It is only on this basis that the fresh interpretations of modern scholars can become comprehensible.

This line of thought and method of interpretation is thoroughly supported by the Qoran and the Teachings of Muhammad. For a Careful study of the text of the Qoran, chapter IX, verse 29, which is supposed to have been made by all the great Muslim jurists as the basis of their exposition of the theory of the jiziyah, would reveal quite another story.

The real object and purpose as well as the genesis of the *jiziyah* and *jihad* cannot be comprehended without a through and patient perusal of the first six sections of the Chapter IX. This chapter is named *'The Immunity'* which signifies *releasing or freeing,* because the main object of this chapter was to release the Muslims from the contract or agreement which they had entered into with their opponents, the jews and idolators of Arabia. But while this immunity to fight against the idolators is granted to the Faithful, an exemption is clearly made in verse 4, in favour of those idolators who had not repudiated their agreement. The occasion for this chapter was the starting of the Muslims on the annual pilgrimage to Mecca, in the ninth year of the Hijra towards the end of which the Muslims and also to march on a campaign to Tabruk.[1] Commenting on verse 4 and other relevant verses of chapter IX, Sec., I., Maulvi Mahammad Ali rightly points out that the 'exception given here makes it quite clear that the

1 MQ p. 395, para 3

Muslims were not fighting with the idolators on account of their religion, but on account of their having been untrue to their engagements....If the Muslims had been fighting with the idolators on account of their religion, why should there be an exception in favour of those idolators who had been true to their engagements? The cause of the renewed fighting was political, i.e., the violations of treaties, and hence only those tribes were fought against who had broken their engagements. If idolatory had been the cause all idotators would have been fought against.

"The clear exception of the verse shows that by idolators here are meant not all idolators or polytheists where ever they may be found in the world nor even all idolators of Arabia, but only those idolatrous tribes of Arabia assembled at the pilgrimmage who had first made engagements with the Muslims and then violated them."[1]

Further commenting on verse 29 of the same chapter (which as has been said above, has been made the basis of the jiziyah as also of the inhuman method of its realisation, by Muslim theologians Maulvi Mohammad Ali makes it clear that the last word on the wars with the idolators of Arabia having been said, this verse introduces the subject of fighting with the followers of the book.[2] At this time the great Christian power of the Roman Empire had mobilised its forces to subjugate the Prophet and his followers. The Tabruk expedition was undertaken to meet this danger. "As the object of this Christian power was simply the subjugation of the Muslims, the words in which their final vanquishment by the Muslims is spoken of are different from those dealing with the final vanquishment of the idolatrous Arabians. *The Quran neither required the idolators to be compelled to accept Islam nor was it in any way its object to bring the christians into subjection.* They on the other hand had determined to compel the Muslims to give up Islam and to bring them under subjection, The fate of each was therefore according to what it proposed to do to the Muslims." It was in such circumstances that the *'Jiziyah'*. (which means, 'to give compensation or

---

1. *MQ.*, p. 397, f.n. The whoie question becomes clear by a careful perusal of Section 1 and 2 of Chapter IX
2. *MQ.*, p. 403, footnote 1049. From this chapter it would seem clear that there is no provision whatsoever in the Quran which either enjoins or warrants the imposition of the jiziyah on peaceful idolators.

satisfaction') was imposed on those Christians and jews who had thus been attempting to supress the Muslims. The author, quoting early Muslim jurists, opines that it was the tax taken from the free non-Muslim subjects of the Muslim Government whereby they ratify the compact that affords them protection, and because they are free from military service, and must accept the superiority of the Muslims. But it would appear that the Quran warrants no such imposition on or against all non-Muslim subjects of the state, in times of peace. This imposition of the *Jiziyah* has been enjoined only under special circumstances on those followers of the Book who had been fighting to suppress and subjugate the Muslims.

Maulvi Muhammad Ali further quotes verse 190, Chapter II[1] to show that 'permission to fight as given to the Muslims in subject to the condition that the enemy should first take up the sword to destroy the Muslims......' 'The Holy Prophet never overstepped this limit.'[2] Fighting was permitted or ordained as a measure of self-defence and to put a stop to religious persecution.[3]

In view of the above elucidation of the circumstances in which fighting with the non-Muslims or imposing jiziyah upon them had to be resorted to, it would appear that the jurists who expounded and interpreted the injunctions of the Prophet pertaining to these particular incidents, so as to apply to all non-Muslims even when they are peaceful, have certainty done great injustice both to the Quran and the Prophet. But even if these injunctions of the Prophet could be stretched to apply to all hostile non-Muslims, there is certainty no warrant in them for the sort of interpretation thereof given by the qazi of Bayana, much less for the barbaric and inhuman manner of subjecting the Hindus to humiliation which he and other jurists enjoined upon all Muslims and especially on Muslim rulers as a sacred duty on the authority of the teachings of the Quran. Some earlier jurists did of course maintain that according to the great Abu Hanifa the zimmi should be humiliated at the time when he

---

1. And fight in the way of Allah with those who fight with you, *and do not exceed the limits,* surely Allah does not love those who exceed the limits.
2. *MQ.*, p. 403
3. *Ibid,*, p. 87, f.n.

goes to pay the jiziyah. But the luxury of spitting into the mouth of the zimmi is a privilege conferred on the Muslim collector of jiziyah by the ingenious imagination of qazi Mughis alone. As a welcome relief from and happy contrast to this parochial divine, stands the sensible and humane. Abu Yusuf, the greatest commentator on Abu-Hanifa, who far from subscribing to these extreme views of later Hanifites, recommends to the Calif-Harun-al-Rashid gentleness (rifq) in the treatment of the dhimmi.'[1]

Such being the real origin of the jiziyah and of the injunctions of Muhammad regarding treatment of non-Muslims, it would not be unfair to assert that these innocent injunctions were wrongly and dishonestly utilised by most of the Muslim rulers to serve their selfish political ends and to achieve their imperialistic ambitions, and in these altogether irreligious and unwarranted acts they were not only assisted but woefully misguided by the equally selfish and even more narrow-minded class of priests and theologians who presumed themselves to be the repositories of all knowledge and all religious merits. A modern authority on Islamic history has pathetically summed up this misuse of religion; "The political history of Islam is a history of shattered ideals. The system founded by the Prophet was a system impossible of complete realisation in a world of imperfect conditions. In the political history of Islamic states we witness the slow and steady decline and eventual disappearance of that purely ideal system of love, brotherhood and equality inaugurated by the genius of the Prophet and sustained by the unwavering loyalty of his two successors". This however was not peculiar to the Muslim priesthood alone. The atrocities and barbarities committed during the Inquistion period by the *Christian* monarchs of Europe, upon those who were branded as heretics for the sin of claiming freedom of thought and holding heterodox views, were so horrible that history hardly affords any parallel to them. It is well known that the self-appointed custodians of the religion of *Christ*, the leaders of the Church and mentors of rulers were the authors of these 'Horrors of the Inquisition,' and their nefarious instructions were carried out by the subservient European rulers who put their poor victims to death usually by fire or by throwing

1. *Aghnides*, p. 407

them into dingy dungeons and leaving them there to famish and to suffer a long drawn out agony before their tortured souls got a much longed for release from their emaciated frames. Human history is one continuous witness of the fact that the most heinous atrocities and heart-rending barbarities have been committed by the kings and priests in conclave in almost all ages and countries and that the unholy conspiracy and clique of the vested interests of these two classes, i.e., rulers and priests, has more often than not been responsible for not only a tragic retardation of the progress of mankind but even for destroying the happiness and mutual good relations between man and man. History affords numerous instances of the manner in which the priests and theologians of a country have put the seal of their approval with a perfectly easy conscience on the most immoral and inhuman deeds and revolting barbarities of their rulers by so interpreting the scriptures as to legalise these sins and even by making interpolations so as to provide religious sanction for their barbarities.

The present writer may by allowed to adduce here from his own experience an illustration of the torture of truth and justice in the name of religion. He was a silent and pitiful witness, while travelling on board an Italain ship from Naples to Bombay in August 1936, of the very solemn and pious prayers which were offered twice every day, with pertect felicity and equanimity, by a fairly numerous company of Italians, including a large number of Jesuit monks and nuns, while they were going at the behests of the '*Duce*' to settle in Abyssinia with the 'sacred mission of showering the belessings of civilization and of the religion of the Catholic God upon the benighted and sinful humanity of that woe-begone land.' No less pitiable and tragic is the spectacle in what claims to be the greatest and holiest seat of culture and religion in this country, of the sole atention and efforts of the custodians of dharma and of men's souls, being devoted on the erection a vast but utterly out of date religious emblem in brick and mortar, white the primary needs of thousands of souls, such as proper provision for their nourishment or for their training in civic decipline and character, which constitute the essential conditions of the health and progress of the youth, are left to take care of themselves. 'The hungry sheep look up and are not fed.' Power always tends to make

men ambitious beyond measure and to blind them to the true values of human life, It compels its willing victims to bury noble aims and exalted ideas of the true religion of humanity beneath the debris of a dead, rotting corpse mis-called religion, composed of empty and meaningless formalisms and rituals, a religion which serves only to crush the soul like a tomb-stone denying it the right to soar into the skies of an invigorating and honest faith built on the sublime principle that. 'The best form of worship is the service of your brother man.'

Barring a few brilliant exception, the most outstanding of them being Zain-ul-abdin of Kashmir and the Emperor Akbar, among monarchs and the Faizi brothers among scholars, the theologians and kings of Medieval India were no exception to the general rule. It is but a truism that it is the most zealous followers of all great teachers and reformers who have done them the greatest injustice and have most mercilessly perverted and marred the noble truths taught by them. The tragic fact about the history of Islam is that the environments and circumstances of its birth having compelled its assuming the form of a militant creed, the future generations of Muslim rulers and theologians so elaborated the precepts and examples set by the Prophet under peculiar conditions, as to apply to conditions for which they were never intended. This was an utter negation of the ultimate aim and ideal of the Prophet which seems to us from a careful perusal of. the Quran, to be the establishment of peace and good will among all mankind.

From : *Islamic Polity*

APPENDIX - 3

Taxes on Religion*

The pilgrimage tax was levied on the Hindus not only when they visited their famous places of pilgrimage but for their local religious fairs and festivities. The usual rate seems to have been Rs. 6½ per head. European visitors mentioned gatherings of as many as half a million men at Hardwar and other such places prohably at the time of the Kumbh. The State must have netted quite a large amount on such occasions. Akbar discontinued it in 1563. Shahjhan reintroduced it but was prevailed upon to give it up when a deputation of Hindu scholars prayed for its abolition. Aurangzeb's persian annals are silent about it. Unlike the Jizia the pilgrimage tax had originated in India and was not considered lawful by the theologians. He may not have formally revived it. But European writers claim that it was being levied in his reign.

European travellers speak of rich Hindus of Gujarat agreeing to pay one lakh of rupees a year for permission to keep their temples open under Aurangjeb. Manrique suggests that under Shahjhan killing of animals considered sacred by the Hindus was prohibited and that the Hindus paid heavily for this concession. Thomas Row mentions the same thing under Jahangir.

* शर्मा, श्रीराम, *मुगल गर्वेन्मेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन,* पृ० 65–66

परिशिष्ट – 4

तीर्थयात्रा कर

भारत जब मुसलमानों तथा मुगलों के शासन में था तब शासकों ने 'शरा' के अनुसार निर्धारित कर भारत में लगाये। यह कर थे खम्स, खराज, जकात और जज़िया। भारत में उन्होंने भारतीयों पर एक और कर लगाया जिसे तीर्थयात्रा कर के नाम से जाना जाता है। तीर्थयात्रा कर का प्रावधान मुस्लिम कानून व्यवस्था में न होने के कारण यह एक विवाद का विषय बन गया। मध्यकाल में मुस्लिम सुल्तानों तथा बादशाहों की उदारता तथा गैर-मुस्लिमों (जिम्मियों) के प्रति सहिष्णुता का मापदण्ड धार्मिक कर माने जाते हैं। विभिन्न इतिहासकारों ने इन करों के आधार पर मुस्लिम शासकों की समालोचना कर के उन्हें सार्वभौम तथा धर्म-निरपेक्ष शासक कहा है। उनका तर्क है कि इन करों को लागू करने का कोई फरमान तथा उससे होने वाली आय के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं इसलिए इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। परिशिष्ट 1 में प्रति व्यक्ति कर की दर दी गई है। तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में तीर्थयात्रा कर का गर्व से उल्लेख है। अगर वह सब वृत्तांत ध्यान देने योग्य नहीं है अथवा अतिरंजित है तो बाकि का इतिहास क्यों कर स्वीकार किया जाना चाहिए? दूसरी बात भारतीय पाराधीन थे। उनके सामने दो ही विकल्प थे इस्लाम या मृत्यु। जिम्मि तो दया का दर्जा था। ऐसी स्थिति में गैर-मुसलमानों के प्रति मुस्लिम सुल्तानों के व्यवहार को आधुनिक धर्म निरपेक्षता अथवा सद्भाव जैसे शब्दों में नहीं आँका जा सकता। इन शब्दों तथा विचारों का उस समय कोई वजूद या अस्तित्व नहीं था। 1206 से 1856 तक के भारत के पराधीनता के वर्षों को उदारता आदि विशेषणों से महिमा मण्डित करने के लिये ही इन करों को इतनी प्रमुखता दी गई है। सल्तनत और मुगल शासन में भारत में बहुत सी मस्जिद व दरगाह स्थापित हो गईं थीं। जिनका मान तीर्थ स्थल जैसा था। 15वीं शती में गोवा व अन्य स्थानों पर गिरजाघरों की स्थापना हुई जो ईसाईयों के तीर्थ बन गये। यदि सुल्तान और बादशाह उदारता व सहिष्णुता का चोगा उतार कर समस्त प्रजा को एक दृष्टि से देखते और समान दर्जा देते हुए सभी धर्मों के तीर्थ स्थानों पर कर लगाते तो वह उनकी धर्म निरपेक्षता होती या सार्वभौम कानून कहे जा सकते थे। परन्तु उन्होंने मुसलमानों को इस्लाम धर्म के केन्द्र से बाँधे रखा। भारत के इतिहास

में वस्तुतः तीर्थयात्रा कर का लम्बा इतिहास है। मध्यकालीन इतिहास का विद्यार्थी टुकड़ों में भारत का इतिहास पढ़ता है इसलिये तीर्थयात्रा कर की वास्तविकता का उसे अधुरा ज्ञान प्राप्त होता है।

तीर्थयात्रा कर वस्तुतः तीर्थ विशेष की यात्रा करने वाले यात्रियों पर लगाया जाने वाला अबवाब है जिसका उपयोग तीर्थ विशेष में यात्रियों की सुविधा की व्यवस्था करना तथा तीर्थ स्थान का विकास करना होता है। इस धन को किसी दूसरे कार्य में नहीं लगाया जा सकता। भारत के विभिन्न तीर्थ स्थानों, मन्दिरों, तीर्थ नगरों में प्रवेश करने पर यह कर (मौर्य काल) सम्राट अशोक से पहले प्रचलित था। अष्टम शिलालेख से पता चलता है कि कलिंग के युद्ध के बाद जब सम्राट अशोक ने धम्मयात्रा करना प्रारम्भ किया तो उसने लोगों को तीर्थयात्रा के लिये प्रेरित करने के लिये यह कर हटा दिया गया। मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि उसने यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ, सार्वजनिक आवास, भोज गृह सराय आदि बनवाईं थीं। उसके एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने परिब्रजाकों के लिये गुहा बनवा कर दीं तथा लुम्बिनी ग्राम (भगवान बुद्ध का जन्म स्थान) का भूमि कर घटा कर 1/8 कर दिया।

भारत पर जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन प्रारम्भ हुआ तो उसके रिकार्डस बताते हैं कि भारत में तीर्थयात्रा कर, चुंगी, घाट, सराय, यातायात कर के अतिरिक्त लिया जाता था। इसका प्रमाण लार्ड विलियम बेंटिक का वह प्रपत्र है जो तीर्थयात्रा कर तथा सती के विषय में 16 फरवरी 1829 को बंगाल प्रेसिडेंसी के ऑफिसर को भेजा गया था। यह प्रपत्र इस प्रकार है—

"On this head (Sati) a suggestion has been made to the Governor General, whether in the event of the abolition of suttee it might not be expedient to couple with it a repeal of the regulation under which a tax on pilgrims now levied. Long custom may probably have removed the obnoxious impression to which the imposition of this tax may originally have given rise, but it seems reasonable, could not but feel gratified with this act of consideration and relief, and that in return from their pilgrimage they would spread through every part of India a favourable report of the conduct of the government, and would thus give the best contradiction to the sinister interpretation which innocent fear or mischievous intention might have founded upon the measure of abolishing suttee."[1]

---

1. फिंलिप्स, सी०एच० (सं०), द *कोरपोंडेस ऑफ लार्ड विलियम काविंडिस बेटिंक गवर्नर जनरल ऑफ इण्डिया,* 1828–1835, पृ० 81

अर्थात्, लार्ड विलियम बेंटिक जब सती प्रथा बन्द करने के लिए कानून बनाने की प्रक्रिया में थे तो उन्होंने विभिन्न ऑफिसर की राय जानना चाही कि अगर तीर्थयात्रा कर जो घृणात्मक है उसे हटाने से हिन्दू जनता की क्या प्रतिक्रिया होगी? क्या सती प्रथा को बन्द करने से उत्पन्न रोष को शान्त करने में वह सहायक होगा?

वाल्टर एवर ने मेरठ से केप्टन बेनसन (31 मार्च, 1929) को लिखा कि उसके विचार से जनता सरकार के प्रति कोई आभार नहीं मानेगी। सती प्रथा के साथ तीर्थयात्रा कर हटाने पर जनता इसके पीछे सरकार का निहित स्वार्थ ढूढ़ने की कोशिश कर सकती थी।[1]

कर्नल टॉड ने 8 नवम्बर, 1829 को लिखा कि सती प्रथा के साथ-साथ तीर्थयात्रा कर भी हटा दिया जाये तो अब और भविष्य में यह कदम जनता का विश्वास तथा आभार जीतने में सफल होगा। यद्यपि इससे होने वाली भारी आय का नुकसान उठाना पड़ेगा, परन्तु अच्छी नीति के लिये यह त्याग कुछ भी नहीं है।[2]

"Lieutenent Col. Todd, he has recommended that the tax on pilgrims should be simultaneously given up, for the purpose of affording an undoubted proof of our disinterestedness and our desire to room every obnoxious abstacle to the gratification of their religious duties. A very considerable revenue is raised from this head; but if it were to be the price of satisfaction and confidence to the Hindus, and of the removal of all distrust of our present and future intentions, the Sacrifice might be a measure of good policy."[3]

डब्ल्यू बर्ड ने कैप्टन बेनसन को 4 अप्रैल 1829 को कलकत्ता से लिखा कि तीर्थयात्रा कर की समाप्ति सती प्रथा बन्द करने में जनता की सद्भावना प्राप्त करने में सहायक नहीं होगी। उसके कारणों की चर्चा करते हुए लिखा कि तीर्थयात्रा कर वसूल करने वाले को आर्थिक लाभ के साथ-साथ प्रभावशाली होने का, शक्ति प्रदर्शन का अवसर मिलता था। जो ब्राह्मण इस कार्य में सहायता करते थे, तीर्थयात्रा कर समाप्त होने पर उनका आर्थिक और रूतबा समाप्त हो जायेगा। ऐसी स्थिति में जो कर इतने समय से वसूल किया जा रहा था उसे समाप्त करने पर अपेक्षित सद्भाव की आशा बहुत कम थी।[4]

---

1. फिलिप्स, सी०एच० (सं०), द *कोरपोंडेस ऑफ लार्ड विलियम काविंडिस बेटिंक गवर्नर जनरल ऑफ इण्डिया,* 1828-1835, पृ० 179
2. *वही,* पृ० 157
3. *वही*
4. *वही,* पृ० 184-185

"With respect to the pilgrim tax, I am not disposed to think that its repeal would operate the least degree towards reconciling the Hindus at large to the abolition of suttee. The officiating Brahmins, unless they should succeed in exorting from the pilgrims in addition to their present emoulments, part of the amount now collected by the public officers, would certainly not be pleased with the repeal, as the arrangements for the purpose of faciliating those collections have a direct tendency to sustain their influence and authority, Moreover the pilgrims themselves, although they would doubtless fell glad at being relieved from the immediate pressure of the tax, yet that feeling would be considerably dimnished if the repeal were to be accompanied by any relaxation of the precautions taken for their general protection and convenience, while collected together in such vast multitudes for the pergormance of their religious ceremonies...."

"I beg however not to be understood as advocating the continuance of the pilgrim tax. On the contrary I should hearlty rejoice on general principles to hear of it repeal, as for the reasons you have stated, it would in course of time, bring pilgrimage into disrepute and get rid the country of the numerous evils with which it is attended."[1]

इन सब रिर्पोटस का परिणाम यह हुआ कि तीर्थयात्रा कर सती प्रथा निषेध कानून के साथ नहीं हटाया गया। बाद में जब 1832 के नियम के पूरक के रूप में हिन्दू धर्म के प्रति उदारता दिखाते हुए लॉर्ड ऑकलैण्ड ने 1833 में तीर्थयात्रा कर समाप्त कर दिया तब मन्दिरों को मिलने वाले अनुदान पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित कर दिया।[2]

पी० मुखर्जी ने हिस्ट्री ऑफ दि जगन्नाथ टेम्पल इन 19 सेन्चूरी में लिखा है कि मराठे जगन्नाथ मन्दिर दर्शन करने आने वाले तीर्थ यात्रियों से कर वसूल करते थे। मयूरभंज और नीलगिरी के राजाओं ने अपनी ओर से तीर्थयात्रा कर लगाया जिसका 10/16 भाग वह मराठा सरकार को देते थे। कर वसूल करने के लिये राजघाट से बालासोर तक 12 चौकी स्थापित की गई थीं। उत्तर भारत से पुरी आने

1. फिलिप्स, सी०एच० (सं०), द *कौरस्पांडेस ऑफ लार्ड विलियम काविंडिस बेटिंक गवर्नर जनरल ऑफ इण्डिया*, 1828–1835
2. रायचौधरी, दत्ता, मजूमदार, *एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, बुक 3, पृ० 815

पर 10 रु० प्रति व्यक्ति तीर्थयात्रा कर अथरनउला चौकी पर देना होता था। दक्षिण से आने वाला तीर्थयात्री लोकनाथ घाट पर 6 रु० प्रति व्यक्ति तथा मन्दिर में प्रवेश शुल्क 15 आना देता था। इस धन से तीर्थ यात्रियों, व्यापारियों आदि की सुविधा के लिये महानदी, कथजूरी आदि नदियों पर पुल बनाये गये। बड़ी नाव चलाई गईं, घाट बनवाये, रास्तों का निर्माण कराया गया।[1]

इस तरह तीर्थयात्रा कर भारत के विभिन्न भागों में लगाये जाने का उल्लेख, इतिहास में मिलता है। परन्तु विचारणीय प्रश्न है कि अबवाब की मराठों की तरह अथवा मुस्लिम और अंग्रेजी सरकार द्वारा तीर्थयात्रा कर वसूल करने में कोई अन्तर है या नहीं?

1833 के बाद तीर्थयात्रा कर कब तीर्थ नगरों की यात्रा में बदल गया यह अनुसंधान का विषय है। अंग्रेजी सरकार ने तीर्थयात्रा कर हटा कर मन्दिरों के अनुदान पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया जो अधिक लाभ का सौदा था। धर्मान्तरण को बढ़ावा देने के लिए धर्म परिवर्तन में आने वाली रुकावटों को समाप्त करने के लिये 1850 में अधिनियम बना दिया। 1947 में भारत स्वतन्त्र हो गया। लेकिन तीर्थयात्रा कर की यात्रा चलती रही। सन् 1970 तक हमने देहली से बनारस तथा मथुरा से बनारस आने के रेलवे के तृतीय श्रेणी शयनकक्ष के टिकट पर लौटने के टिकट से 2 रु० ज्यादा किराया दिया। उसके बाद यह अन्तर समास कर दिया गया लेकिन बनारस में जिन्सों पर शुल्क बढ़ा दिया जिससे यहाँ साधारण वस्तुओं की कीमतें और धार्मिक नगरों की तुलना में अधिक हो गईं।

स्वतन्त्र भारत में तीर्थयात्रा कर का स्थान देवस्थान कर, यात्री कर, धर्म स्थान पर्यटक कर के रूप में बदल गया। केदारनाथ धाम की यात्रा करते समय गौरी कुण्ड पर बनी चौकी पर यह कर चुकाना पड़ता है। वृन्दावन की परिक्रमा करने वालों को, माउण्ट आबू जाने वालों को प्रति व्यक्ति 5 रुपया कर देना पड़ता है। विभिन्न मन्दिरों में जाने के लिये टिकट लेना पड़ता है। दान इत्यादि अलग जबकि हज करने मक्का मदीना जाने वाले तीर्थ यात्रियों को विभिन्न प्रकार की सुविधायें सरकार देती है। साथ ही साथ अनुदान अलग से देती है जबकि किसी गैर-मुस्लिम को अपने तीर्थ की यात्रा करने के लिये कोई सुविधा या अनुदान स्वतन्त्र भारत की सरकार नहीं देती। यही नहीं पुरातत्त्व विभाग जिन स्मारकों, लाल किला, कुतुबमीनार, म्यूज़ियम आदि का रख रखाव करता है वह भी शुक्रवार जुम्मे के दिन किसी से टिकट नहीं वसूलता। प्रश्न उठता है जुम्मे के दिन ही क्यों?

---

1. मुखर्जी, पी०, *हिस्ट्री ऑफ दि जगन्नाथ टेम्पल इन दी 19 सेन्चूरी*, कलकत्ता, 1977, पृ० 26-27

निष्कर्ष

इस आलेख से स्पष्ट है कि तीर्थयात्रा कर भारत में प्रचलित था। मध्य युग में मुस्लिम सुल्तानों और मुगल शासकों ने मुस्लिम और गैर–मुस्लिम के प्रति जो भेद मूलक नीति अपनाई वह अनुचित थी। उदारता सहिष्णुता के स्थान पर यदि वह अपनी प्रजा के लिये राष्ट्रीय एकता समान नीति बनाते तो वह धर्म निरपेक्षता या लौकिक कानून (जवाबित) कहलाता। स्वतन्त्र भारत में तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में जो नीति चल रही है वह वर्ग विशेष के हित को ध्यान में रख कर चलाई जा रही है इसलिये भेदभाव पूर्ण है।

ग्राम पंचायत, ओ...

यात्रिक कर (PASSENGER TAX)

अपरिवर्तनीय

प्रति वयस्क
Rs. 2/-
TWO ONLY

H № 22646

माउन्ट आबू नगरपालिका

यात्रिक कर (Passenger Tax)

प्रति व्यस्क
रु. 5.00

368729
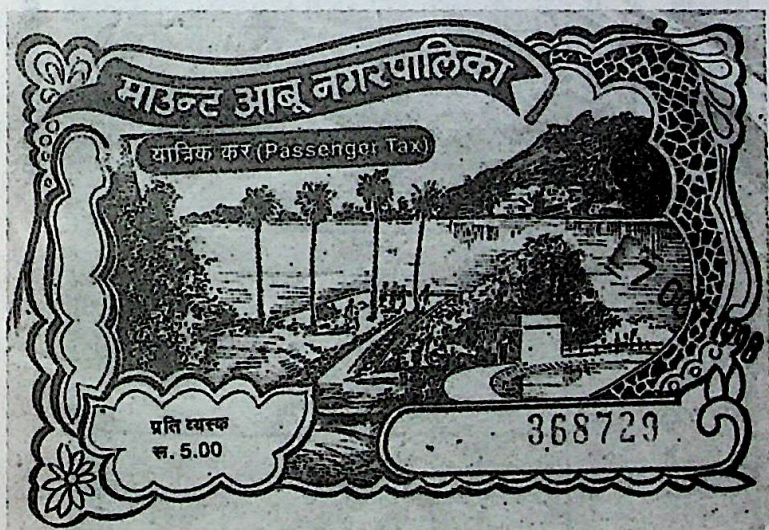
माउन्ट आबू नगरपालिका, प्रति व्यक्ति तीर्थयात्री कर

पुस्तक संख्या ३६१

नगरपालिका बोर्ड जोशीमठ

तीर्थ यात्री कर प्रपत्र संख्या — २

नियम ४ (२) देखिए

क्रम संख्या 9

दिनांक और समय	गाड़ी के स्वामी/प्रभारी का नाम	गाड़ी का रजिस्ट्रेशन नम्बर	यात्रियों की संख्या	दर	तीर्थयात्री कर	मोहर्रिर के हस्ताक्षर	कूपन
१	२	३	४	५	६	७	८
[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	नगरपालिका तीर्थ जोशीमठ पुस्तक सं० क्रम सं० वाहन का नं० व प्रभारी का नाम- यात्रियों की संख्या- धनराशि

तीर्थयात्री कर, जोशी मठ, उत्तरांचल

स गाड़ी से जांच

यात्री कर प्रपत्र संख्या-१

(नियम-४ (२ देखिये) 89

पुस्तक संख्या चेक .... 76 .... क्रम संख्या ....

चौकी का नाम .... समय ....

में गाड़ी संख्या .... जिसका विवरण .... से

.... का प्रभारी हूं और यह गाड़ी .... से आ रही है और इस गाड़ी से यात्री यात्रा कर रहे हैं।

जांच चौकी के मोहर्रिर के हस्ताक्षर — गाड़ी संख्या .... के प्रभारी के हस्ताक्षर

नोटीफाइड एरिया कमेटी, बद्रीनाथ

तीर्थ-यात्री कर प्रपत्र संख्या-२

(नियम-४ (२) देखिये)

दिनांक और समय	गाड़ी के स्वामी या प्रभारी का नाम	गाड़ी का नाम और उनकी संख्या	दर	तीर्थ यात्री कर		मोहर्रिर के हस्ताक्षर	कूपन
१	२	३	४	५		६	७
				रु०	पै०		
2/6		UGA 1080 / 4	1	4	10	S	

नोटीफाइड एरिया कमेटी, बद्रीनाथ

तीर्थ-यात्री कर प्रपत्र संख्या-३

76 (नियम-४ (४) देखिये) 89

पुस्तक संख्या .... क्रम संख्या ....

दिनांक .... समय ....

जांच चौकी का नाम जिससे होकर गाड़ी में प्रवेश किया ....

गाड़ी का प्रकार और संख्या ....

यात्रियों की संख्या जो रसीद में अंकित है ....

रसीद संख्या जिसमें तीर्थ यात्री-कर का भुगतान किया गया ....

जांच के समय पाये गये यात्रियों की संख्या ....

तीर्थ यात्री कर जिसे जांच चौकी पर लिया जाना चाहिए था .... रु०

निरीक्षक को किया गया अतिरिक्त भुगतान .... रु०

निरीक्षक के हस्ताक्षर

तीर्थयात्री कर, बद्रीनाथ, उत्तरांचल
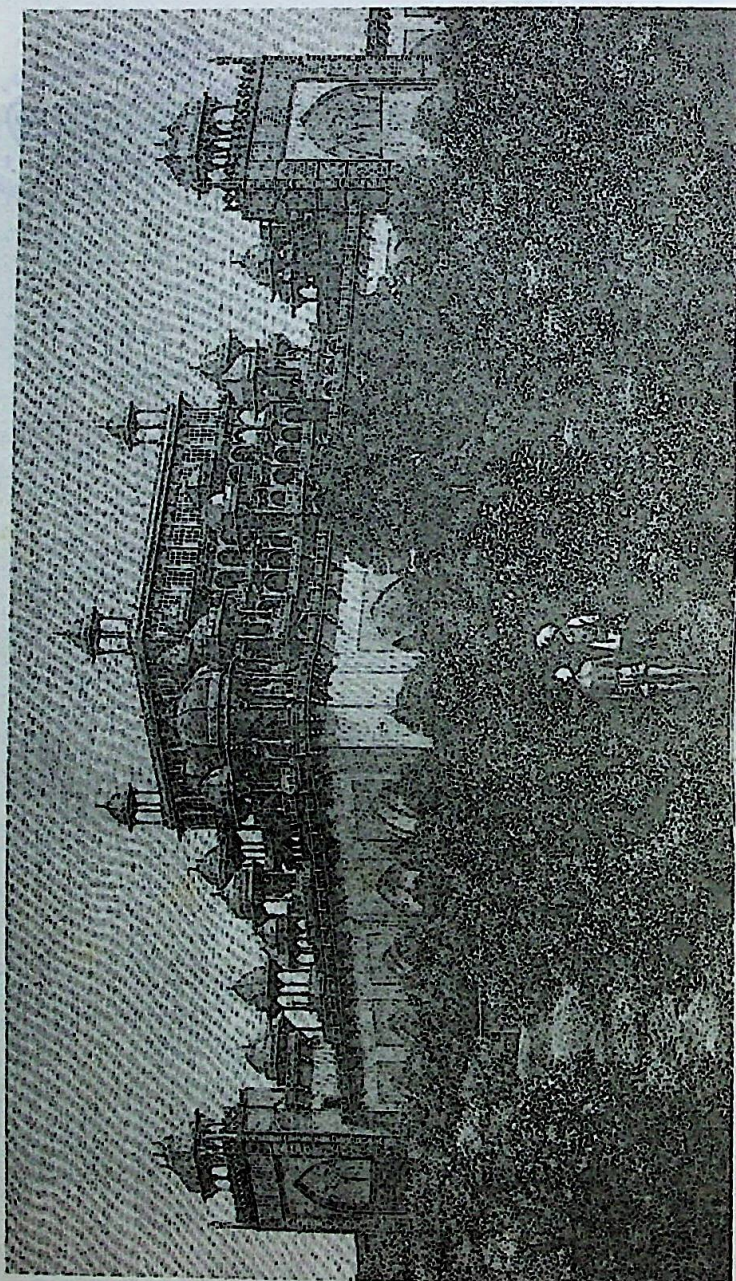
अकबर का मकबरा, सिकन्दरा

डॉ० ऊषा रानी बंसल

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर से 1965 में इति[illegible] में एम.[illegible] 1972 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से [illegible]च० डी० स्नातक तथा स्नात्तकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन का लग[illegible]35 वर्ष [illegible] अनुभव। उत्तर प्रदेश इतिहास कांग्रेस तथा इण्डियन हि[illegible] कांग्रेस [illegible] सदस्या। अमेरिकन बायोग्राफिकल इन्स्टीट्यूट, अमेरिका [illegible] 1999 'वूमन ऑफ दी इयर अवार्ड' तथा रोटरी क्लब वाराणसी द्वारा 1999 [illegible] व्यवसायिक सेवा सम्मान तथा रोटरी क्लब सिटी वाराणसी द्वारा 2005 में शिक्षक दिवस पर सम्मानित। स्वीडन, अमेस्टरडम, इंग्लैंड तथा बर्लिन में अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में शोधपत्र प्रकाशित। अमेरिका, कनाडा, स्वीडन, डेनमार्क, जापान, हाँगकांग, सिंगापुर आदि देशों का भ्रमण। अनेक शोध ग्रन्थों का निर्देशन। विभिन्न राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में 36 शोध-पत्र प्रस्तुत किए। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक विषयों पर 75 लेख प्रकाशित। इसके अतिरिक्त कहानियाँ व कवितायें भी प्रकाशित।

प्रमुख कृतियाँ

1. सल्तनत कालीन सरकार तथा प्रशासनिक व्यवस्था, 2003।
2. U.P. Under Provincial Autonomy, 1988
3. Social welfare activities of the Government of India 1945-55, 1980.
4. श्रीमद्भवद्गीता प्रवचनामृत, संपादन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, 2001।

Rs. 100.00
ISBN 81-7124-535-8
9788171245352

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com
www.vvpbooks.com